जीवन-ज्योति

लेखक

इन्द्र विद्यावाचस्पति

सदस्य, राज्य सभा

राजपाल एण्ड सन्ज़

कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट,
दिल्ली

प्रथम संस्करण
अगस्त, १९५६

मूल्य
तीन रुपया

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स
दिल्ली

अनुक्रमणिका

१. पुरुषोत्तम राम १

२. योगेश्वर कृष्ण २१

३. महात्मा बुद्ध ४१

४. महर्षि दयानन्द ५३

५. श्री गुरु नानकदेव जी ६७

६. उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्द ७७

७. कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ८७

८. डा० शांतिस्वरूप भटनागर ९९

९. आचार्य चन्द्रशेखर वेंकट रमन १०७

१०. झांसी की रानी ११५

११. महात्मा गांधी १३९

१२. डा० राजेन्द्रप्रसाद जी १७९

१३. पंडित जवाहरलाल नेहरू १८९

पुरुषोत्तम राम

: १ :

पुरुषोत्तम राम

यह त्रेता युग की बात है। कोशल नाम के देश की राजधानी अयोध्या में, इक्ष्वाकु वंश के राजा दशरथ राज्य करते थे। अयोध्या नगरी बहुत ही सुन्दर बनी हुई थी। वह धन और धान्य से पूर्ण थी। प्रजा हर प्रकार से सुखी थी, क्योंकि महाराज दशरथ प्रजा की पालना और रक्षा अपनी सन्तान की भांति करते थे।

राजा की तीन रानियां थीं। सबसे बड़ी कौशल्या थी, उससे छोटी सुमित्रा और सबसे छोटी कैकेयी थी। राजा अन्य सब प्रकार से सुखी थे, उन्हें एक ही चिन्ता थी कि राजवंश को चलाने के लिए कोई सन्तान नही थी। आर्यजाति में पितृऋण को उतारने के लिए सन्तान का होना आवश्यक समझा जाता था। राजा ने अपने कुल-गुरु वसिष्ठ तथा अन्य अमात्यों से परामर्श किया तो उन्होंने पुत्र-प्राप्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ करने की सलाह दी।

सरयू नदी के तट पर, महाराज दशरथ का अश्वमेध यज्ञ बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ। यज्ञ के अन्त में शुभ सन्देश के वाहक प्राजापत्य नर ने यज्ञमण्डल में प्रकट होकर, चरु का पात्र दशरथ के हाथ में देते हुए सन्देश दिया कि "हे राजन्! तुम इस चरु को अपनी प्रिय पत्नियों में बांटकर पिला दो, तुम्हें अभीष्ट पुत्रों की प्राप्ति हो जायगी।" महाराज ने सिर झुकाकर पात्र को स्वीकार कर लिया और यज्ञ पूर्ण होने के अनन्तर अपनी रानियों में बांट दिया।

यथासमय महाराज दशरथ के चार पुत्र उत्पन्न हुए। कौशल्या से राम, सुमित्रा से लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न और कैकेयी से भरत ने जन्म लिया। यों तो चारों भाई अत्यन्त सुन्दर, सुडौल और प्रतिभा-सम्पन्न थे, परन्तु उनमें से राम असाधारण गुणों के कारण तारों में चन्द्रमा के समान अधिक शोभायमान होते थे। बचपन से ही चारों भाइयों का परस्पर प्रेम असाधारण था। उसमें भी इतनी विशेष बात थी कि लक्ष्मण की राम के प्रति, और शत्रुघ्न की भरत के प्रति अधिक भक्ति थी। राजलक्षणों से सम्पन्न चारों पुत्रों को देखकर दशरथ का हृदय प्रफुल्ल रहने लगा। उसने विद्वान् और तपस्वी गुरुजनों की सहायता से राजकुमारों की शिक्षा की व्यवस्था की, जिसका फल यह हुआ कि छोटी ही आयु में वे शस्त्रों और शास्त्रों की विद्या में निपुण हो गये।

प्रसिद्ध तेजस्वी ऋषि विश्वामित्र अपने आश्रम में एक महान् यज्ञ कर रहे थे। राक्षस लोग उस यज्ञ में विघ्न डालते थे। कभी छापा मारकर यज्ञ की सामग्री उठा ले जाते तो कभी यज्ञभूमि में लहू-मांस आदि बिखेरकर उसे भ्रष्ट कर देते थे। ऋषि विश्वामित्र यज्ञ की रक्षा के लिए सहायता मांगने स्वयं महाराज दशरथ के दरबार में उपस्थित हुए। महाराज ने ऋषि का वचन सुनकर निवेदन किया कि महर्षि, आपके यज्ञ की रक्षा करना मेरा धर्म है, मैं आपके साथ सेना-सहित चलने को उद्यत हूँ। महर्षि ने उत्तर दिया कि मैं तो यज्ञ की रक्षार्थ केवल राम को लेने आया हूं, मुझे सेना आदि की आवश्यकता नहीं। ऋषि की आज्ञा को शिरोधार्य करके दशरथ ने राम और लक्ष्मण को यज्ञ की रक्षा और राक्षसों के नाश के लिए उनके साथ भेज दिया।

मार्ग में ऋषि ने कुमारों को अपने देश का प्राचीन इतिहास सुनाने के अतिरिक्त बला और अतिबला नाम की विद्याओं का उपदेश भी दिया। ऋषि के उपदेशों में कुमार ऐसे मग्न रहे कि उन्हें रास्ते के कांटों और पत्थरों का अनुभव ही न हुआ और लम्बा मार्ग तय करके वे आश्रम के समीप पहुंच गये।

आश्रम के समीप जंगल में ताड़का नाम की एक राक्षसी रहती थी। वह तपस्वियों को बहुत दुःख देती थी। ऋषि ने कुमारों को बतला दिया था कि यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए उस क्रूर राक्षसी को मारना आवश्यक है। जंगल में पहुंचकर कुमारों ने धनुष की प्रत्यंचा पर टंकार की, जिसे सुनकर ताड़का वहां आ गई और कुमारों को मारने के लिए उनकी ओर भागी। उस समय राम ने प्रत्यंचा पर तीर चढ़ाकर पूरे बल से ताड़का की छाती को निशाना बनाया। तीर छाती को बेधकर हृदय तक पहुंच गया। ताड़का घोर आर्त्तनाद करती हुई पृथ्वी पर लोट गई।

उसके पश्चात् कुछ समय यज्ञ का कार्य शान्ति से चलता रहा, पर वह शान्ति अधिक समय तक न चली। ताड़का के पुत्र मारीच और सुबाहु नाम के दो घोर राक्षसों ने राक्षस-सेना के साथ यज्ञभूमि पर हमला कर दिया। राम भी सावधान थे। उनकी शरवर्षा के सामने राक्षस ठहर न सके और आंधी के सामने आये हुए भुस के ढेर की तरह शीघ्र ही बिखर गये। राम ने मारीच के भारी शरीर को वायव्यास्त्र द्वारा उठाकर कोसों दूर फेंक दिया, और अर्धचन्द्र तीर से सुबाहु का सिर काटकर राक्षसों के उस उत्पात का अन्त कर दिया।

यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति पर ऋषि विश्वामित्र और अन्य तपस्वियों ने दोनों कुमारों को भूरि-भूरि आशीर्वाद दिये। उन्हीं दिनों ऋषि के पास मिथिला के राजा जनक की पुत्री सीता के स्वयंवर का निमन्त्रण पहुंचा। ऋषि ने उचित अवसर देखकर कुमारों को भी स्वयंवर में ले जाने का निश्चय किया और वे अनेक जंगलों को पार करते, और आश्रमों में विश्राम करते हुए ठीक स्वयंवर के अवसर पर मिथिला जा पहुंचे। राजा जनक ने स्वयंवर की शर्त यह रखी थी कि जो क्षत्रिय शिवधनुष को उठा लेगा, सीता उसी का वरण करेगी। बड़े-बड़े यशस्वी क्षत्रिय उत्साह-पूर्वक आये, परन्तु उस धनुष को हिलाने में भी सफल न हुए। जब ऋषि विश्वामित्र, राम को धनुष उठाने की आज्ञा देने लगे तो राजा जनक बहुत घबराये, क्योंकि जहां वह राम को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए, और सोचने लगे कि क्यों न सीता का राम से ही विवाह कर दिया जाय, वहां राम की छोटी आयु और कोमल शरीर को देखकर उनका दिल कांपता था। ऋषि ने राजा के सन्देह का निवारण करते हुए राम को धनुष उठाने की आज्ञा दी। राम ने न केवल धनुष को उठा लिया, वरन् उसकी प्रत्यंचा को इस ज़ोर से खींचा कि वह जगत्प्रसिद्ध शिवधनुष मानो घोर चीत्कार करता हुआ टूटकर दो टुकड़ों में विभक्त हो गया। सीता ने आगे बढ़कर राम के गले में वरमाला डाल दी।

सब समाचार पाकर महाराज दशरथ बड़ी सजधज के साथ मिथिला पहुंच गये, और धूमधाम से राम और सीता का विवाह सम्पन्न हो गया। विवाह के पश्चात्, वधू को लेकर बरात अयोध्या की ओर चली। उस समय एक अद्भुत घटना हो गई। क्षत्रियों के

प्रसिद्ध शत्रु मुनिवर परशुराम ने जब यह सुना कि एक क्षत्रिय ने शिवधनुष को भंग कर दिया है, तो वह बहुत रुष्ट हुए और दशरथ की सेना का मार्ग रोक दिया। राम ने आगे बढ़कर प्रणाम किया तो परशुराम ने उन्हें बहुत कुछ भला-बुरा कहा और अपने हाथ का धनुष उन्हें देते हुए कहा कि तूने पुराने जर्जरित धनुष को भंग कर दिया तो क्या बहादुरी का काम किया ! यदि सच्चा क्षत्रिय है तो मेरे इस धनुष को खीचकर दिखा। राम ने मुस्कराते हुए उस धनुप को हाथ मे ले लिया और उस पर प्रत्यंचा चढा दी। इस पर परशुराम ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और युद्ध की इच्छा छोड़कर तपस्या के लिए चल दिये।

राम अयोध्या मे पहुंचे तो नगर-निवासियों ने उनका स्वागत किया। अयोध्या के और सारे राज्य के निवासी राम के गुणों पर मुग्ध थे। वह जितने तेजस्वी थे, उतने ही शांत और दयालु थे। उनकी अन्तरात्मा जितनी महान् थी, शरीर भी उतना ही बलिष्ठ था। पुर और जनपद के निवासी उन्हे बहुत प्यार करते थे। सीतादेवी के आने से राम की शोभा दुगुनी हो गई, जैसे चांदनी से चांद की शोभा में वृद्धि होती है।

राजा दशरथ बूढ़े हो रहे थे। वह राम जैसे गुणी पुत्र को युव-राज बनाकर स्वयं रघुकुल की रीति के अनुसार शेष जीवन तपो-भूमि में व्यतीत करने की तैयारी करना चाहते थे। उन्होंने इस विषय में अपने मत्रियों और पुरवासियों से परामर्श लिया तो वे सब सहमत हो गये। तब देश की प्रचलित पद्धति के अनुसार निश्चय किया गया कि शुभ दिन और शुभ मुहूर्त में राम को अयोध्या के

राज्य का उत्तराधिकारी युवराज नियत करने के लिये अभिषेकोत्सव का आयोजन किया जाय।

कुछ लोगों का स्वभाव होता है कि वे दूसरे के सुख को देखकर अकारण डाह करने लगते हैं। रानी कैकेयी की दासी मन्थरा ऐसी ही थी। जब उसने राम के अभिषेक का समाचार सुना तो मुंह फुलाकर कैकेयी के पास पहुंची और भड़काने के लिए तरह-तरह की बातें बनाने लगी। उन दिनों कुमार भरत और शत्रुघ्न कुछ समय के लिए अपनी ननिहाल गये हुए थे। उनकी अनुपस्थिति में राजतिलक हो रहा है, इस बात को लेकर मन्थरा ने कैकेयी को क्रोध दिला दिया और समझा दिया कि जब राम राजा हो जायगा तो राजमाता होने से कौशल्या का गौरव बढ़ जायगा। कैकेयी मन्थरा की बातों में आ गई और उसने महाराज दशरथ से वे दो वर मांगे, जिन्हें देने का वचन महाराज ने कैकेयी से तब किया था, जब उसने संग्रामभूमि में रथ के पहिये की कील निकल जाने पर, उसके स्थान पर अपनी अंगुली डालकर महाराज की रक्षा की थी। वरों के रूप में कैकेयी ने दो मांगें कीं। पहली मांग यह थी कि राम को चौदह वर्ष का वनवास दिया जाय, और दूसरी मांग यह थी कि भरत को राजगद्दी पर बिठाया जाय। महाराज इन वरों को सुनकर अधमुए से हो गये, परन्तु वचन का पालन करना क्षत्रिय का धर्म है, इस कारण इन्कार न कर सके। जब राम को अन्तःपुर में बुलाया गया, और कैकेयी ने उन्हें दोनों वर कह सुनाये, तो राम ने किसी प्रकार का दुःख या क्रोध प्रकट नहीं किया, उन्होंने शांतभाव से कहा, बहुत अच्छा, मैं महाराज की प्रतिज्ञा का पालन करता हुआ जटा और वल्कल धारण कर, रहने के लिए

वन को चला जाऊंगा। मेरा राजतिलक न होगा और मुझे वन जाना होगा, मुझे इसका दुःख नहीं है, दुःख केवल इतना है कि महाराज मुझसे बोलते क्यों नहीं ? हे माता, मैं हर्षपूर्वक चला जाऊंगा। मुझे हर्ष है कि भरत राजा होगा। आप से यही प्रार्थना है कि आप मुझे आशीर्वाद दें और महाराज को आश्वासन दें।"

"राम, पिता और कैकेयी को प्रणाम करके माता कौशल्या और सीता से विदा लेने के लिए चलने लगे तो महाराज मूर्च्छित हो गये, परन्तु राम अपने निश्चय से विचलित न हुए। वाल्मीकीय रामायण में लिखा है––

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥

अर्थात्, पृथ्वी के राज्य को छोड़कर, वन को जाने के समय भी उस असाधारण महापुरुष राम के चेहरे पर कोई विकार दिखाई नहीं दिया।"

"राम के लिए माता कौशल्या से वन जाने की छुट्टी पाना सहज नहीं था। माता का हृदय तो नहीं मानता था परन्तु धर्म की मर्यादा के सामने प्रेम ने भी सिर झुका दिया।" माता ने छाती पर पत्थर रखकर राम को विदा दी। सीता से विदा नहीं मिली, वह पतिव्रता पति के साथ वन जाने को उद्यत हो गई। राम ने बहुत समझाया कि वनवास मुझे मिला है, तुम्हें नहीं; वन में कांटे भी हैं, और जंगली जन्तु भी––परन्तु सीता ने एक न सुनी। उसने कहा––

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव !
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्।

अर्थात् हे राघव, यदि तुमने दुर्गम वन को जाने का आज ही निर्णय किया है तो मैं कुशों और कण्टकों को पैरों से कुचलती हुई तुम्हारे आगे-आगे जाऊंगी।"

राम पतिव्रता के सच्चे प्रेम के आगे क्या कहते! परन्तु, लक्ष्मण को वरदान की कथा सुनकर बहुत क्रोध आया। वह तेजस्वी राजकुमार महाराज और कैकेयी के घोर अन्याय के सामने सिर झुकाने को तैयार नहीं था। राम ने जब उसे शांत करते हुए धर्म की मर्यादा समझाई, तो वह भी बड़े भाई के पीछे-पीछे वन जाने के लिए उद्यत हो गया।

वह दिन पूरा होने से पहले ही राम, सीता और लक्ष्मण मुनियों के योग्य वेष पहनकर अयोध्या से विदा हो गये। राम के स्नेह में बंधी हुई अयोध्या की प्रजा बहुत दूर तक उनके रथ के पीछे-पीछे गई, परन्तु अन्त में प्रजाजनों को राम का अनुरोध स्वीकार करना पड़ा, और वे लोग आंखों से आंसुओं की धारा बहाते हुए राजधानी में लौट आये।

जब राम, सीता और लक्ष्मण तपस्वियों का वेष धारण करके जंगल में चले गये, तब सुमन्त खाली रथ को लेकर अयोध्या लौट आया। सुमन्त और खाली रथ के लौटने पर महाराज के हृदय पर भारी आघात पहुंचा, जिसने उनके जीवन का अन्त कर दिया। नगर भर में घोर हाहाकार मच गया और कैकेयी तथा भरत को गालियां मिलने लगीं। जो राजदूत भरत के पास भेजे गये, उन्होंने राजधानी के सब समाचार न सुनाकर केवल शीघ्र चलने का सन्देश दिया। कांपते हुए हृदयों से भरत और शत्रुघ्न जब अयोध्या में पहुंचे, और सारे समाचार सुने तो भरत को अपार दु:ख हुआ।

पिता स्वर्गलोक सिधार गये, राम जैसे प्यारे भाई वन को चले गये, यह जानकर भरत शोक से बेचैन हो गया। उसने अपनी माता के कुटिल संकल्पों पर पानी फेरते हुए घोषणा की कि 'मैं अयोध्या की राजगद्दी पर किसी दशा में भी नहीं बैठूंगा। गद्दी भाई राम की है, और उन्हीं को मिलेगी।' यह घोषणा करके भरत मंत्रियों, संबन्धियों और सेनाओं को साथ लेकर राम को जंगल से लौटाने के लिए उस मार्ग पर चल पड़े, जिससे राम, सीता और लक्ष्मण गये थे।

तब तक राम चित्रकूट जा पहुंचे थे। वे वहां फूस की कुटिया बनाकर तपस्वियों की भांति निवास कर रहे थे। जब भरत आश्रम में पहुंचे तो उन्होंने देखा कि राम के सिर पर जटायें बंधी हुई हैं, शरीर काले हरिण के चर्म से ढका हुआ है, परन्तु उस वेष में से उनका ओज और तेज सूर्य की किरणों की तरह चारों ओर फैल रहा है। राम कुशा के आसन पर विराजमान थे, और उनके पास ही सीता और लक्ष्मण भी आसनों पर बैठे हुए थे।

राम भाई को गले लगाने के लिए खड़े हो गये, परन्तु भरत भाई के चरणों पर गिरकर आंसुओं की धारा बहाने लगे। राम के कुशल-प्रश्न करने पर भरत ने कहा कि अयोध्या में राज्य आप ही करेंगे। मैं सारी प्रजा की ओर से आपको वापिस लेने आया हूं। राम ने उत्तर दिया कि पिता की प्रतिज्ञा का पालन करना तुम्हारा और मेरा दोनों का कर्त्तव्य है। पिता ने तुम पर राज्य करने का बोझ डाला है, उसका पालन करो, और मुझे वन में रहने की छुट्टी दी है, मैं उसका पालन करता हूं। अधिक आग्रह करने पर राम ने भरत को समझाया —

'चांदनी चांद को छोड़ दे, हिमालय हिम से शून्य हो जाय, या समुद्र अपनी सीमा का उल्लंघन कर दे, पर मै पिता की आज्ञा को भंग नहीं कर सकता।' अन्त में भरत को राम के आदेश का पालन करना पड़ा। उसने राम की खड़ाऊं लेकर घोषणा की कि राज्य इन खड़ाऊं का रहेगा, मै तो केवल उनका प्रतिनिधि बनकर प्रजा का पालन करूंगा।

भरत के अयोध्या लौट जाने पर राम को यह आशंका हुई कि राजधानी के समीप रहने से कही प्रतिज्ञा-पालन में विघ्न न आते रहें, इस कारण उन्होंने दक्षिण की ओर जाने का निश्चय किया। मार्ग में उन्हें कई ऋषियों के आश्रम मिले, और अनेक राक्षसों से वास्ता पड़ा। ऋषियों और ऋषिपत्नियों से उपदेश तथा आशीर्वाद लेते हुए और राक्षसों का संहार करते हुए वे पंचवटी में जा पहुंचे। वह स्थान हर तरह से रमणीक था, स्वच्छ जलाशयों और फलदार वृक्षों के कारण अनुकूल जानकर उन्होंने वही वनवास के वर्ष बिताने का निश्चय कर लिया। समीप ही गोदावरी नदी बहती थी, और कुछ दूरी पर पद्मिनी नाम की सरसी थी। लक्ष्मण ने जंगल से लकड़ी, पत्ते और फूस इकट्ठे करके एक सुन्दर कुटिया तैयार कर दी, जिसमें रहकर तीनों तपस्वियों जैसा विशुद्ध और सन्तोषभरा जीवन व्यतीत करने लगे।

राम को वहां रहते दस से अधिक वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन लंका के राजा रावण की बहिन शूर्पनखा घूमती-फिरती आश्रम के पास आ निकली। उसकी दृष्टि राम पर पड़ी, तो वह राक्षसी मोहित हो गई, और सीता के सामने ही राम से कहने लगी कि तुम मुझसे शादी कर लो, क्योंकि मैं अति सुन्दरी हूं। संयमी

राम ने कामान्ध राक्षसी को समझाते हुए कहा कि हे बाले, मैं विवाहित हूं, दूसरा विवाह नहीं करना चाहता। फिर हंसकर कहा कि तू मेरे छोटे भाई से जाकर प्रार्थना कर। शूर्पनखा लक्ष्मण के पास गई तो उसने भी दुत्कार दिया। वह फिर राम के पास आई। उसकी यह दशा देखकर सीता को हंसी आ गई। इसपर क्रोध से पागल-सी होकर राक्षसी सीता की ओर यह कहती हुई झपटी कि "तू हरिणी होकर व्याघ्री का मज़ाक उड़ाती है, तो इसका फल पा।" उस समय उसने जो भयानक शब्द किया, उसे सुनकर लक्ष्मण अपनी कुटिया से भागकर आये तो देखा कि शूर्पनखा सीता पर आक्रमण करना चाहती है। इस पर तेजस्वी लक्ष्मण ने तलवार निकाल कर शूर्पनखा के कान और नाक काट दिये।

रोती-चिल्लाती और धमकियां देती हुई शूर्पनखा फरियाद लेकर जनस्थान में पहुंची, और खर, दूषण तथा उनके सहस्रों अनुयायियों को अपने कटे हुए कान-नाक दिखाकर युद्ध के लिए उत्तेजित किया।"

सहस्रों राक्षसों की सेना ने खर और दूषण के नेतृत्व में राम के आश्रम पर आक्रमण कर दिया। राम ने सीता की रक्षा का बोझ लक्ष्मण पर डालकर स्वयं अकले राक्षसों का संहार करने का संकल्प कर लिया। राक्षस उमड़-उमड़कर आगे बढ़ते थे, परन्तु रामबाणों के ग्रास बन जाते थे। खर, दूषण और त्रिशिरा बारी-बारी से आगे आये, और धराशायी हो गये। थोड़े ही समय में वह सहस्रों राक्षसों की सेना धूप में बर्फ की भांति पिघल गई, और सारा जंगल राक्षसों के कबन्धों से भर गया।

निराश होकर शूर्पनखा अपने भाई रावण के समीप पहुंचकर रोई। उसने रावण को धिक्कारते हुए कहा कि जिसकी बहिन का साधारण मानव द्वारा ऐसा घोर अपमान हुआ है, वह यदि उसका पूरा बदला न ले तो उसे शतशः धिक्कार है। रावण पहले से ही इस बात पर जला-भुना बैठा था कि सीता ने उसे छोड़कर राम को क्यों वर लिया। वह भी शिवधनुष को उठाने गया था, परन्तु सफल नहीं हो सका था। अब उसकी वासना की आग में घी की एक और आहुति पड़ गयी, और उसने सीता का हरण करके राम से बदला लेने का निश्चय कर लिया।

बदला लेने की योजना में रावण ने मारीच को साझीदार बनाया। मारीच सोने के हरिण का रूपरंग बनाकर राम के आश्रम के सामने ऐसे ढंग से घूमने लगा कि उस पर सीता की दृष्टि पड़ जाय। सीता ने जब वन में सोने के मृग को उछलते-कूदते देखा तो वह राम से उसे पकड़ लाने का आग्रह करने लगी। राम सीता के आग्रह को न टाल सके, और मृग की ओर चल दिये। मृग छलांग मारकर जंगल में घुस गया, इसपर राम ने भी उसका पीछा किया। पीछा करते-करते वह बहुत दूर निकल गये, परन्तु मृग हाथ न आया, तब उन्होंने उसे लक्ष्य करके बाण छोड़ा। बाण लगने पर मृत्यु निकट आई जानकर मारीच ने सीता को धोखा देने के लिए अन्तिम चाल चली। वह जोर से चिल्लाया—'हा सीते, हा लक्ष्मण' मारीच की आवाज़ सुनकर सीता घबरा गई, और बहुत हठ करके लक्ष्मण को राम को खोजने के लिए भेज दिया। रावण तो इस अवसर की तलाश में ही था। वह परिव्राजक के रूप में भिक्षा मांगने के बहाने आश्रम के द्वार पर पहुंचकर, सीता के सामने जा

खड़ा हुआ। सीता एक मान्य अतिथि को आया देखकर आदर-सत्कार करने में लग गई। बैठने को आसन दिया, और चरण धोने को जल। रावण ने उचित अवसर देखकर सीता को बलपूर्वक उठा लिया और आश्रम से दूर खड़े रथ पर चढ़ाकर दक्षिण की ओर भाग निकला। सीता बेचारी बहुत रोई-चिल्लाई, परन्तु उसकी आवाज़ उस घने जंगल के वृक्ष-वनस्पतियों से टकराकर रह गई, राम और लक्ष्मण तक न पहुंची। रावण सीता को लिये हुए जंगलों और पर्वतों को पार करता हुआ लंका की ओर जा रहा था कि मार्ग में एक पर्वत पर सीता को कुछ वानर लोग दिखाई दिये। यह सोचकर कि सम्भव है, इनसे किसी की राम से भेंट हो जाय, सीता ने अपने उत्तरीय वस्त्र और कुछ आभूषण पृथ्वी पर फेंक दिये, जिन्हें उन लोगों ने उठा लिया।

राम और लक्ष्मण जब आश्रम में वापिस आये तो उसे शून्य पाया। दोनों भाई इसपर बहुत चकित हुए और चारों ओर ढूंढ़ने लगे। जब ढूंढ़ने से भी कुछ पता न चला तो अत्यन्त दुःखी हृदयों से खोजने के लिए निकल पड़े। कुछ दूर जाने पर उन्हें घायल पड़ा हुआ वीर जटायु मिला। उसने, सीता को बलपूर्वक ले जाते हुए रावण को पहले समझाया था और फिर उससे सीता को छीनने की चेष्टा की थी। इस संघर्ष में रावण ने उसे घायल कर दिया था। उससे राम को यह सूचना मिल गई कि रावण सीता को दक्षिण की ओर ले गया है। फलतः दोनों भाई घने जंगलों और दुर्गम पर्वतों को लांघते हुए, सीता की खोज में दक्षिण की ओर चल दिये।

मार्ग में ऋष्यमूक पर्वत पड़ा। वहां वानर जाति का सुग्रीव

नाम का अग्रणी निवास करता था। सुग्रीव के मन्त्री हनुमान के प्रयत्न से राम और सुग्रीव म गहरी मैत्री हो गई। सुग्रीव भी दुःखी था, क्योंकि उसका राज्य और उसकी स्त्री तारा पर, उसके बड़े भाई वाली ने अधिकार जमा लिया था। दोनों समान दुःख वालों में परस्पर सहानुभूति उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। फलतः दोनों अत्यन्त गहरे मित्र बन गये, और एक दूसरे के सहायक बनने की प्रतिज्ञा में आबद्ध हो गये।

राम ने वाली को मारकर सुग्रीव को उसका राज्य और स्त्री दोनों ही वापिस दिला दिये, इससे सन्तुष्ट होकर सुग्रीव ने अपनी सेना को सीता की खोज करने के लिए दिग्दिगन्तरों में भेज दिया। जब उन्हें जटायु के भाई मारुति से यह समाचार मिला कि रावण सीता को लेकर अपनी राजधानी लंका में चला गया है तो उन्होंने लंका पहुंचकर सीता की कुशल-क्षेम जानने का संकल्प किया। उस समय ऐसे साहसिक वीर की खोज होने लगी जो समुद्र को पार करके लंका पहुंचे और समाचार लेकर वापिस आ सके। सबकी दृष्टि महाबली ब्रह्मचारी हनुमान् पर पड़ी, जो सुग्रीव और राम दोनों का परमभक्त और विश्वासी सेवक था। हनुमान् ने वह दुष्कर कार्य अपने जिम्मे ले लिया। वह समुद्र को पार करके लंका पहुंचे, और अपनेको पहरेदारों से बचाते हुए उस अशोक-वाटिका में घुस गये, जहां एक अशोक वृक्ष के नीचे बैठी हुई सती सीता राम का चिन्तन कर रही थी। वह चारों ओर से राक्षसियों से घिरी हुई थी। अवसर पाकर हनुमान् जानकी के सामने प्रकट हो गये और परिचय के लिये वह अंगूठी पेश की, जो चलते हुए राम ने दे दी थी। 'उस समय वह अंगूठी

ऐसी लग रही थी मानो पति का समाचार पाकर सीता की आंखों से निकले हुए शीतल आंसू ही स्थूल रूप में आ गये हों। (रघुवंश)"

इस प्रकार अपने दूत-कार्य में सफलता प्राप्त करके लौटने से पहले हनुमान् ने रावण को राम के एक सेवक की शक्ति की बानगी दिखाने के लिए, लंका के उद्यान को नष्ट करना आरम्भ कर दिया। जब राजकुमार अक्षय उसे मारने आया तो स्वयं मारा गया। परन्तु अन्त में हनुमान् पकड़ लिया गया। रावण के दरबार में पहुंचकर फिर उसने अपने बल का पूरा परिचय दिया। उसने न केवल बन्दी बनाने वालों से अपने को छुड़ा लिया बल्कि रावण की सुनहली लंका को भी फूंककर राख कर दिया।"

"हनुमान् ने लंका से लौटकर राम को सीता का सब वृत्तान्त सुनाया और वह आभूषण उनके सामने रखा जो पहचान के लिए सीता ने दिया था। वह आभूषण मानो सीता का अपने उद्धार के लिए राम को लंका में निमंत्रण था।" राम सुग्रीव की सम्पूर्ण सेना को साथ लेकर समुद्रतट की ओर प्रस्थित हुए।

समुद्रतट पर राम को कुछ समय तक रुकना पड़ा। सेनाओं को लंका तक पहुंचाने के लिए पुल बांधना आवश्यक था। नल और नील नाम के दो प्रसिद्ध शिल्पियों के निर्देश के अनुसार कुछ ही दिनों में वानर-सेना ने एक दृढ़ सेतु तैयार कर दिया। इसी बीच रावण का छोटा भाई विभीषण, अपने बड़े भाई की अधर्म से भरी हुई नीति से दुःखी होकर राम की शरण में आ गया। राम ने उसे अपनी सेना का अंग बनाकर उदार-नीतिज्ञता का परिचय दिया।

अन्त में वह दिन आ गया जब सारी वानर-सेना ने समुद्र को पार करके लंका को चारों ओर से घेर लिया। "रावण यह सोचकर

कि समुद्र तो अलंघ्य है, सुख की नींद सो रहा था कि उसे शत्रु-सेनाओं-द्वारा लंका के घिरने का समाचार मिला। तब भी उसने किसी अनिष्ट की आशंका नहीं की। उसे विश्वास था कि केवल मनुष्य और वानरों की सेना संसार-विजयी रावण का बाल भी बांका नहीं कर सकती। उसे भरोसा था कि उन्हें तो मैं चुटकी में पीस दूंगा।

परन्तु उसे घोर निराशा का मुंह देखना पड़ा। उसके सेनापति वानर-सेना के नाश के लिए एक-एक करके काले बादलों की तरह गर्जते हुए निकले, और राम तथा लक्ष्मण के शस्त्रास्त्रों और हनुमान् तथा अन्य वानर सेनापतियों द्वारा संचालित वानर सेना के पराक्रम की आंधी के सामने जाकर बिखर गये। जब शस्त्रों के युद्ध में रावण के सेनापतियों को सफलता न मिली, तो उसने अपने पुत्र मेघनाद को मायामय अस्त्रों का प्रयोग करने की आज्ञा दी। मेघनाद ने पहला वार नागास्त्र द्वारा किया। उसके प्रभाव से पहले तो दोनों भाई मूर्च्छित हो गये, परन्तु गरुड़ास्त्र का प्रयोग होने पर नागास्त्र का प्रभाव जाता रहा। तब मेघनाद ने लक्ष्मण पर अमोघ शक्ति का ऐसा वार किया कि वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। पहले तो राम और उनके सहायक बहुत घबरा गये, परन्तु जब वीर हनुमान् पर्वत पर जाकर संजीवन औषध ले आये, और उसके प्रयोग से लक्ष्मण स्वस्थ हो गये तो राघव की आशा फिर हरी हो गई। लक्ष्मण न केवल सचेत हो गये. उन्होंने लंका में घुसकर मेघनाद का नाद भी समाप्त कर दिया।

मेघनाद के मर जाने पर रावण ने अपने विशालकाय भाई कुंभकर्ण को नींद से जगाकर युद्धक्षेत्र में भेजा। कुछ समय तक तो

उस ने वानरों का खूब संहार किया, परन्तु सायंकाल से पहले ही सुग्रीव ने उस के कान-नाक काट दिये, और राम ने अपने अमोघ बाण द्वारा उसकी छाती बींध दी। कुंभकर्ण चिघाड़ता और रक्त उगलता हुआ लड़खड़ाकर धरती पर गिर पड़ा और साथ ही रावण की आशायें भी मानो आकाश से उतर धरती पर आ गिरं

तब तो अभिमानी रावण को अपने सिंहासन से उतरकर युद्ध-क्षेत्र में आना पड़ा। "लंका के द्वार पर रावण का जो भयंकर युद्ध हुआ, वह अपूर्व था। कवि ने उसका वर्णन करते हुए कहा है—

राम रावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।

अर्थात्, राम और रावण का युद्ध राम और रावण के युद्ध जैसा ही था, उसकी उपमा मिलनी कठिन है। शस्त्र के उत्तर में शस्त्र, और अस्त्र के उत्तर में अस्त्र ऐसे निकलते थे, मानो एक दूसरे से ही उत्पन्न होते हैं। जब राम और रावण का युद्ध गर्म हुआ तो सब राक्षस और वानर लड़ना छोड़कर दर्शक बन गये। दर्शनाभिलाषी विमानचारियों से आकाश भर गया, और प्रकृति ने भी उत्सुकता में सांस लेना छोड़ दिया। सारी सृष्टि धर्म और अधर्म के उस महान् संग्राम को देखने के लिए निस्तब्ध हो गई थी।

राम पैदल थे, रावण रथ पर आरूढ़। इस असमानता को मिटाने के लिए स्वर्ग के राजा इन्द्र ने अपना सांग्रामिक रथ राम के लिये भेज दिया। राम उसपर आरूढ़ होकर विश्वविजय का अभिमान करने वाले रावण के आक्रमण का समान ऊँचाई से उत्तर देने लगे।"

प्रातःकाल की लड़ाई में राम के सेनापतियों ने रावण के

बड़े-बड़े सेनानायक मार दिये थे। इस पर रावण क्रोध से प्रज्व-लित होकर पूरे पराक्रम से लड़ने लगा। उसी समय विभीषण उसके सामने आ गया। विद्रोही भाई को देखकर रावण आपे से बाहर हो गया और उस पर प्रहार करने के लिए अमोघ शक्ति हाथ में ली। लक्ष्मण पास ही था। विभीषण को मृत्यु से बचाने के लिए निर्भय वीर लक्ष्मण विभीषण के सामने आ गया और रावण पर बाण-वर्षा करने लगा। रावण का क्रोध विभीषण से हटकर लक्ष्मण पर बरस पड़ा, और उसने उस हाथ में ली हुई अमोघ शक्ति का लक्ष्य लक्ष्मण को बना दिया। बली रावण के हाथ से फेंकी वह अमोघ शक्ति लक्ष्मण की छाती में लगी, जिससे वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर गया। राम दूसरे स्थान पर लड़ रहे थे। जब उन्हें यह समाचार मिला तो वह रावण के सामने आ गये। लक्ष्मण को रक्त से लथपथ और मूर्च्छित देखकर दुःखी तो बहुत हुए परंतु घबराये नहीं। केवल एक क्षण के लिए मूर्च्छित भाई को गले से लगाया, और फिर धनुष हाथ में लेकर सुग्रीव, हनूमान् आदि से कहा—

हे वानरश्रेष्ठो, तुम लोग लक्ष्मण को घेरकर सुरक्षित रखो, मैं जिस पराक्रम के समय की चिरकाल से प्रतीक्षा कर रहा था, वह आ गया है। इस मुहूर्त, मैं तुम सबके सामने दृढ़ प्रतिज्ञा करता हूं, कि आज या तो जगत् से रावण विदा हो जायेगा, या राम।

राम ने यह घोषणा की और रावण पर शर-वर्षा आरम्भ कर दी। उन असह्य राम-बाणों के प्रहार से रावण ऐसा बौखलाया कि डरकर युद्धक्षेत्र से भाग खड़ा हुआ।"

"इधर सुषेण के सुझाने पर हनुमान् फिर पर्वत पर जाकर विशल्यकारिणी औषधि ले आया, जिसे सुघाने से लक्ष्मण की मूर्च्छा जाती रही, और वह उठ कर बड़े भाई के गले लग गया।

"तब तक रावण युद्धक्षेत्र में फिर वापिस आ गया। राम और रावण का वह दूसरा द्वन्द्व युद्ध बहुत ही भयानक हुआ। दोनों बलवान् थे, शस्त्र-अस्त्र विद्या के पारगत थे, और आज 'मारना है या मरना है' की प्रतिज्ञा करके युद्ध मे आये हुए थे। पहले तो रावण ने बहुत जोर बांधा, पर राम ने अपने बाणों से उसके अंग-अंग को बीध डाला, तब स्वामी की शोचनीय दशा देखकर सारथि रावण के रथ को फिर युद्धक्षेत्र से हटा ले गया।"

परन्तु रावण को चैन कहा! उसकी सेना के सर्वनाश का समय आ गया था। होश में आकर रावण ने सारथि को आज्ञा दी कि फिर रथ को राम के सम्मुख ले चलो, आज उसे मारना ही होगा। "रावण के सम्मुख आने पर, प्रतिज्ञा-पूर्ति का निश्चित अवसर आया जानकर, राम ने अपने अलौकिक तेज को पूर्णरूप से जाग्रत किया और लंकापति पर ब्रह्मास्त्र का वार किया। राम के धनुष से निकला हुआ ब्रह्मास्त्र व्यर्थ कैसे जा सकता था! वह रावण की कवच से ढकी विशाल छाती को चीरता हुआ पृथ्वी में जा घुसा। यज्ञों का नाश करने वाले देव-शत्रु के धराशायी होने पर सारे संसार ने मानो सन्तोष की सांस ली। धरती पर मंगल-गीत गाये जाने लगे और आकाश से विमान-संचारियों ने पुष्पों की वर्षा की।"

रावण का नाश हो जाने पर वीर हनुमान् अपने बहुत से सैनिकों के साथ लंका में पहुंच गया और अशोक-वाटिका में चिता-

मग्न जानकी को प्रणाम किया। राम ने लंका का राजा विभीषण को बना दिया था। विभीषण की आज्ञा के अनुसार, सीता को बड़े आदर-सत्कार से सुन्दर पालकी में बिठाकर राम के समीप पहुंचाया गया। उस समय कुछ लोगों में इस प्रकार की चर्चा होने लगी कि क्या राम इतने समय तक राक्षसों के घर में रही हुई सीता को बिना किसी परीक्षा के ही घर में रख लेंगे। इस पर राम ने अग्नि-परीक्षा द्वारा संसार को दिखा दिया कि सीता सर्वथा निष्कलंक और पवित्र है, और सीता, लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान्, विभीषण आदि के साथ पुष्पक-विमान पर आरूढ़ होकर अयोध्या की ओर प्रस्थान किया।

तपस्वी भरत, जो चौदह वर्षों से नन्दी ग्राम में राम की पादुकाओं को सिंहासन पर बिठाकर राज्यरूपी तपस्या कर रहा था, इस दिन की प्रतीक्षा में ही था। उसने सबका हृदय से स्वागत किया, और राम का राज्य राम के चरणों में रख दिया। चौदह वर्षों की घोर तपस्या के अनन्तर, और रावण जैसे दुर्दान्त राक्षस के नाश से अमर यश कमाकर सत्यवादी, धर्मनिष्ठ, मर्यादा-पुरुषोत्तम राम अयोध्या-निवासियों के जय-जयकारों के मध्य राघवों के यशस्वी राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हो गये।

योगेश्वर कृष्ण

: २ :

योगेश्वर कृष्ण

द्वापर युग के अन्त और कलियुग के प्रारम्भ में, आज से हज़ारों वर्ष पूर्व मथुरा में कंस नाम का राजा राज्य करता था। वह बहुत ही क्रूर और अभिमानी शासक था। उसमें सबसे बड़ा दोष यह था कि वह अपने आपको सबसे बड़ा मानता था। यदि उसके सामने कोई ईश्वर की भी प्रशंसा करता, तो वह उसे अपनी निन्दा मानकर प्रशंसा करने वाले को मृत्यु-दंड दे देता था। भले और निरपराध व्यक्तियों को कारागार में डाल देना, लूट लेना या मार देना तो उसका नित्य-कर्म सा बन गया था।

एक बार संसार का भ्रमण करते हुए नारद मुनि उसके दरबार में आ निकले। कंस ने उनका बहुत आदर-सत्कार किया तो प्रसन्न होकर मुनि ने उन्हें बतलाया कि मैंने देवलोक में सुना है कि तुम्हारी बहिन देवकी के आठवें गर्भ से जो बच्चा उत्पन्न होगा, वह तुम्हारी मृत्यु का कारण बनेगा। यह सूचना देकर मुनि तो चले गये, पर कंस बड़ी चिन्ता में पड़ गया। उसने उसी दिन से अपनी बहिन देवकी और उसके पति वसुदेव पर गुप्त परन्तु कड़ा पहरा बिठा दिया। पहरेदारों को यह आज्ञा दे दी गई कि जब देवकी के बच्चा हो तो उसी समय कंस को सूचित किया जाये। जब देवकी के बच्चा होता तो समाचार मिलने पर कंस वहां पहुंच कर नवजात बच्चे को शिला के ऊपर पटककर मार देता। इस प्रकार उसने देवकी के सात बच्चे मार डाले। जब आठवां बच्चा

होने का समय आया तो वसुदेव और देवकी ने निश्चय किया कि किसी न किसी विधि से उसकी रक्षा की जाय। आधी रात का समय था, और बाहर घोर अन्धकार छाया हुआ था। नवजात बच्चे को गोद में छिपाकर वसुदेव पहरेदारों की आंख बचाता हुआ महल से बाहर हो गया, और यमुना को पारकर गोकुल में जा पहुंचा। वहां गोप लोगों की बस्ती थी। गोपों के मुखिया नन्द के घर उसी रात एक कन्या उत्पन्न हुई थी। कन्या को पालने में डालकर घर के सब लोग नन्द की स्त्री यशोदा की देखभाल में लगे हुए थे। अच्छा अवसर देखकर वसुदेव ने अपने बालक को पालने में डाल दिया, और कन्या को गोद में लेकर प्रभात होने से पूर्व ही मथुरा वापिस आ गया। उसका विचार था कि कंस जब देखेगा कि आठवां बच्चा कन्या है, तो दया करके उसे छोड़ देगा, क्योंकि कन्या द्वारा राजा की मृत्यु कैसे सम्भव है! परन्तु कंस में दया कहां! उसे प्रातःकाल जब समाचार मिला कि देवकी ने बच्चे को जन्म दिया है, तो तुरन्त वहां पहुंच गया और रोती-कलपती देवकी से कन्या को छीनकर शिला पर दे मारा, और अपनी मृत्यु की ओर से निश्चिन्त हो गया।

उधर, नन्द-परिवार के लोगों का जब पालने की ओर ध्यान गया तो देखा कि उसमें एक बहुत ही सुंदर और स्वस्थ बालक चपल आंखों से टक-टक निहार रहा है। उसका रंग अलसी के फूल की तरह सांवला था, उसमें अद्‌भुत लावण्य था, और आंखों में चमक थी। वह अपने नन्हें हाथों से पांव को पकड़कर उसके अंगूठे को मुंह में डालकर चूस रहा था। पहले उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ क्योंकि नन्द भी गोरा था, और यशोदा भी गोरी, उनका पहला

लड़का बलराम भी गोरा था, इस नये बच्चे के सांवले रंग पर उन्हें अचम्भा हुआ परन्तु उसके लावण्य को और खिले हुए चेहरे को देखकर वे सब कुछ भूल गये, और बड़ी माया-ममता से उसके पालन-पोषण में जुट गये। सांवले रंग के कारण उस का नाम 'कृष्ण' रखा गया।

शिशु कृष्ण का बाल-जीवन अद्भुत था। एक ओर उसकी मोहनी मूरत पर ब्रजवासी लट्टू थे तो दूसरी ओर उसके शारीरिक बल के चमत्कार देखकर चकित थे। एक दिन एक खड़ी हुई बैलगाड़ी की छाया में, सोते हुए कृष्ण को छोड़कर यशोदा यमुना पर चली गई। बैलगाड़ी में दूध रखने के मटके आदि भरे हुए थे। कृष्ण की नींद खुल गई, तो अपने को अकेला पाकर वह रोने और हाथ-पांव चलाने लगा। कृष्ण ने गाड़ी को पांव का ऐसा धक्का दिया, कि वह उलट गई। यशोदा आई तो देखा कि कृष्ण मुंह में अंगूठा दिये टक-टक देख रहा है और गाड़ी उल्टी पड़ी है। उसने समझा कि कोई भारी उत्पात हो गया। चारों ओर पूछने लगी कि गाड़ी को किसने उलट दिया? नन्द आ गया, गांव के और भी बहुत-से गोप-गोपी इकट्ठे हो गये, तब पास खेलते हुए बच्चे ने बतलाया कि हमने अपनी आंखों से कृष्ण को पांव मारकर गाड़ी को उलटाते देखा है। ब्रजवासी चकित रह गये।

कुछ दिनों के पश्चात् एक और ऐसी ही आश्चर्यजनक घटना हो गई। बलराम और कृष्ण दोनों ही बहुत चंचल बच्चे थे। दिन भर खेलते हुए सारे ब्रज में घूमा करते और ब्रजवासियों को कभी हंसाते तो कभी रुलाते। जब लोग उनकी धूल से सनी सुन्दर

मूर्तियों को देखते तो प्रसन्न होते थे, और जब वे उनके घरों में घुसकर तोड़-फोड़ करते तब दुखी होकर शिकायत करने यशोदा के पास पहुंचते। दोनों में छोटा होता हुआ भी, शरारतों में आगे कृष्ण ही था। गोपियों की नित्य की शिकायतों से तंग आकर, एक दिन यशोदा ने कृष्ण की कमर में रस्सी बांधी और रस्सी को ऊखल से बांध दिया। यशोदा कृष्ण को यह कहकर कि बहुत भागा-भागा फिरता है, अब तो जाके देख, काम-काज में लग गई। थोड़ी देर में दूर से दो वृक्षों के गिरने का शब्द सुनकर जो उधर देखा, तो गिरे हुए पेडों के पास ऊखल से बंधे हुए कृष्ण को मुस्कराते हुए पाया। ब्रजवासी 'क्या हुआ, क्या हुआ' चिल्लाते हुए वहां एकत्र हो गये। पंचायत के सामने यह प्रश्न रखा गया कि आंधी नही चली, वर्षा नही हुई, और न बिजली ही गिरी है। कोई मस्त हाथी भी वहां नही आया तो ये दो विशाल वृक्ष कैसे गिर गये ? पूछताछ से अन्त में यह निश्चय हुआ कि जब ऊखल को घसीटता हुआ कृष्ण दोनों पेड़ों के बीच मे से निकलने लगा तो ऊखल दोनों पेड़ों के बीच फंस गया। कृष्ण ने जोर का जो झटका दिया तो दोनों पेड़ टूटकर गिर गये।'

उन वृक्षों से ब्रजवासियों को बड़ा प्रेम था। उनके टूटने से वह बहुत दुखी हुए और इस अप्रिय कार्य के लिए यशोदा को कोसते हुए घरों को चले गये। यशोदा बेचारी परेशान थी। कृष्ण को नहीं रोकती, तो घर-घर से शिकायतें आतीं, और रोकती थी तो भी उसके उत्पातों का शिकार बनती थी। उस चमत्कारी बेटे के लक्षणों को देखकर गद्गद् भी होती थी, दुखी भी। सूझता नहीं था कि क्या करे ! नन्द अपने दोनों पुत्रों के बल

को देखकर फूला नहीं समाता था।

गोकुल के समीप एक गहरा तालाब था। उसमें एक काला सांप रहता था। उस भयंकर सांप के डर से कोई प्राणी उस तालाब से पानी पीने तक नहीं जाता था। जब बालक कृष्ण उस तालाब और सांप के किस्से किसी व्यक्ति से सुनता तो मन में सोचता था कि क्यों न उस सांप को मारकर सब को निर्भय कर दिया जाय। अन्त में उसने स्वयं इस पुण्य कार्य को पूरा करने का निश्चय किया, और एक दिन हाथ में अपनी प्यारी बांसुरी को लेकर तालाब में छलांग लगा दी। कुछ बच्चे पास ही खेल रहे थे, उन्होंने जब कृष्ण को तालाब में कूदते देखा तो डरकर बस्ती की ओर भागे, और सारे ब्रज में समाचार सुना दिया। फिर क्या था! आगे-आगे नन्द-यशोदा और पीछे सैकड़ों ब्रजवासी कृष्ण के प्रेम से खिंचे हुए तालाब पर इकट्ठे हो गये। कोई रो रहा था, तो कोई चिल्ला रहा था। वे कह रहे थे——

'दिवसः को विना सूर्य विना चन्द्रेण का निशा।
विना वृषेण का गावो विना कृष्णेन को ब्रजः।'

जैसे सूर्य के विना दिन, चन्द्र के विना रात, और वृष के विना गायें व्यर्थ हैं, ऐसे ही कृष्ण के विना ब्रज किस काम का!

सब लोग तो क्रन्दन करते रहे, बलराम साहस करके आगे बढ़ गया, और तालाब में झांककर कृष्ण को देखा तो चकित रह गया। कृष्ण ने महासर्प के जल में निकले हुए फन पर ऐसी गहरी चोटें कीं कि उसके मुंह से रुधिर बहने लगा, और वह थोड़ा-सा छटपटा कर ठण्डा हो गया। ब्रजवासियों के हर्ष का पारावार न रहा। दोनों भाइयों को आगे करके सब ब्रजवासी गाते और

हर्ष से नाचते हुए ब्रज में वापिस आ गये।

कृष्ण के अद्भुत बल और पराक्रम की कथायें गोकुल से चलकर मथुरा और मथुरा से आगे बढ़कर चारों दिशाओं में फैलने लगी। जब वे कथायें कंस के कानों तक पहुंचीं, तब उस पापी का मन कांप उठा। उसे आशंका होने लगी कि कही यही वह बालक तो नही है, जो नारद की भविष्यवाणी को पूरा करेगा। उसने उस उठते हुए प्राण-संकट को अंकुर-रूप में ही नष्ट करने का संकल्प कर लिया।

घबराये हुए कंस ने अक्रूर को बुलाकर आदेश दिया कि गोकुल में जाकर कृष्ण और बलदेव को अपने साथ ले आओ। अक्रूर का हृदय सचमुच अक्रूर था, वह कृष्ण का अनिष्ट नहीं चाहता था, परन्तु स्वामी की आज्ञा का पालन करना धर्म है, इस विचार से अक्रूर रथ द्वारा सायंकाल के समय ब्रज में पहुंच गया। वहां जाकर देखा तो गोदोहन के समय, गौओं के मध्य में, बछड़े की भांति प्रसन्न कृष्ण को खड़े पाया। बाल-गोपाल की मधुर मूर्त्ति देखकर अक्रूर की आंखों में प्रेम के आँसू आ गये। उसे अपने पास बुलाकर अक्रूर ने प्यार किया, और उसे साथ लिये हुए नन्द के पास पहुंच कर प्रणाम किया। अक्रूर ने बड़ी चतुराई से कृष्ण को मथुरा ले जाने का प्रस्ताव उपस्थित किया। उसने कृष्ण से कहा कि तुम्हारे माता-पिता (वसुदेव और देवकी) तुम्हारे वियोग से अत्यन्त दुखी हैं। रात-दिन तुम्हें देखने की इच्छा प्रकट करते हैं और आँसू बहाते हैं। मैं तुम्हें लेने आया हूं। तुम मेरे साथ चलकर उन्हें आश्वासन दो।

कृष्ण को न भय था, न आशंका। वह अक्रूर के साथ जाने को

सहर्ष उद्यत हो गया। परन्तु सब ब्रज-वासी वैसे वीर नहीं थे। वे अकेले कृष्ण या बलराम और कृष्ण को मथुरा नहीं भेजना चाहते थे, इस कारण अगले दिन जब अक्रूर दोनों भाइयों को लेकर मथुरा को चला, तो सैकड़ों गोप नर-नारी पाथेय बांधकर साथ-साथ चल दिये। कंस ने तो केवल दोनों भाइयों को बुलाया था, पर वहां तो सारा ब्रज ही उमड़ पड़ा। उनके यह चाल चलने पर कंस को काफी क्रोध आया, पर करता भी क्या! निरपराध गोपाल-परिवारों को मथुरा में प्रवेश करने से कैसे रोकता!

कंस ने बलराम और कृष्ण को मथुरा में इसलिए बुलाया था कि उन्हें मारकर अपने जीवन-संकट को जड़ से उखाड़ दे। इस उद्देश्य से उसने बहुत दृढ़ योजना बनाई थी। उसने यह बहाना बनाकर कि हमारे प्रिय सम्बन्धी गोकुल से आये हैं, एक विशाल सभा का आयोजन किया। यह घोषणा कि गई थी कि सभा में मल्ल-युद्ध तथा अन्य बल-प्रदर्शन होंगे। उस मण्डप की बहुत बढ़िया सजावट की गई तथा बलराम और कृष्ण दोनों भाइयों को निमन्त्रित किया गया।

सभा में आने पर, दोनों भाइयों के नाश के लिये कंस ने कई उपाय किये थे। जब सभा-मण्डप राजवंश के लोगों, सामन्तों और अन्य प्रतिष्ठित प्रजाजनों से भर गया, तब दोनों भाइयों को बुलवा भेजा गया। दोनों भाइयों के बल और सौंदर्य की ख्याति मथुरा के घर-घर में फैल चुकी थी। दोनों सिंह-समान युवकों के सभा की ओर जाने का समाचार पाकर नगर के मार्ग के दोनों ओर की अट्टालिकायें, देखने के लिये उत्सुक स्त्री-पुरुषों से भर गईं। दोनों भाई कंस के अभिप्राय से अनभिज्ञ नहीं थे।

उन्हें अक्रूर से काफी पता चल चुका था। सब कुछ जानते हुए भी दोनों वीर मस्ती में झूमते हुए, लोगों के नमस्कार का उत्तर देते, मुस्कराते हुए मण्डप के द्वार पर पहुंच गये।

वहां कंस का प्रसिद्ध हाथी कुवलयापीड आक्रमण करने के लिये खड़ा था। कंस ने उसके महावत को गुप्त रूप से आज्ञा दे दी थी कि यदि उसका हाथी दोनों कुमारों को जान से मार डालेगा तो उसे खूब पारितोषिक, और यदि न मार सका तो हाथी और महावत दोनों को मृत्यु-दण्ड मिलेगा। बलराम और कृष्ण के समीप आने पर महावत से प्रेरणा पाकर दुष्ट हाथी मारने के लिए आगे की ओर लपका। कृष्ण ने क्षणभर में ही सारी स्थिति को भांप लिया और कूदकर उसकी सूंडको हाथों से पकड़कर बगल में दबा लिया और एक हाथ से उसके दान्तों के बीच में शस्त्र से वार किया। कृष्ण के वज्र के समान बलिष्ठ हाथों से चोट खाया हुआ हाथी घोर चीत्कार करता हुआ भूमि पर बैठ गया। तब कृष्ण को उसे मारने का अच्छा अवसर मिल गया। उसके माथे पर अपना पैर रखकर और पूरे जोर से दोनों दान्तों को हाथों से खींचकर बाहर कर दिया, और उन्हीं दांतों से मार-मारकर कुवलयापीड की जान निकाल दी। आगे से कृष्ण ने मारा, और पीछे से बल-राम ने उसकी पूंछ को पकड़कर इस ज़ोर से खींचा कि वह शरीर से अलग हो गई।"

प्राण छोड़ते हुए हाथी का चीत्कार मण्डप के अन्दर कंस के कानों तक पहुंचा। उसका दिल तो दहल गया, परन्तु अभी उसके तरकस में और तीर भी थे। वह उनके चलाने की तैयारी करने लगा।

दोनों भाई विजयी शेरों की तरह झूमते हुए मण्डप में प्रविष्ट हुए तो कंस ने उनसे कहा कि तुम दोनों अपने बल के लिये बहुत प्रसिद्धि पा चुके हो। आज इस सभा के सामने हमारे पहलवानों के साथ तुम्हारा मल्लयुद्ध होगा। युद्ध मरणान्त हो सकता है। जो जीता रहेगा वही जीता हुआ समझा जायगा। कंस के चाणूर, मुष्टिक और शल-तोशल नामक मल्ल बहुत विशालकाय और नामी थे। सभा में उपस्थित लोगों को कंस का प्रस्ताव बहुत ही अन्यायपूर्ण प्रतीत हुआ परन्तु कृष्ण ने क्षण भर का भी विलम्ब न किया। हाथों से ताल दी और चाणूर से भिड़ गया। चाणूर सब पहलवानों का शिरोमणि था। कंस आशा से, यादव भय से, और अन्य दर्शक आश्चर्य से बादल और बिजली के उस संघर्ष को देख रहे थे। कृष्ण कुछ समय तक चाणूर से खेलते रहे, फिर युद्ध को समाप्त करने का संकल्प कर उन्होंने आगे बढ़कर चाणूर को दोनों हाथों में थामकर उसकी छाती में पांव की इस ज़ोर की ठोकर मारी, कि उसके आंख, कान और नाक से रक्त की धारा बह निकली, और वह हाथी जैसा भारी व्यक्ति मिट्टी के ढेले की तरह रंग-भूमि में गिरकर मर गया।"

चाणूर के मर जाने पर बलदेव मुष्टिक पर और कृष्ण तोशल पर टूट पड़े और कंस के देखते-देखते उन्हें हाथों से उठाकर और चारों ओर घुमाकर इस वेग से भूमि पर पटका कि उनकी हड्डियां चूर-चूर हो गईं।

इस प्रकार अपनी सब आशाओं पर पानी फिरा देखकर कंस कांपने लगा,और वसुदेव और देवकी, जो कुछ समय पहले भय से कांप रहे थे, आंखों से आनन्द के अश्रु बरसाने लगे।

'निराशा और भय से कांपते हुए कंस को और तो कुछ न सूझा, चिल्लाकर अपने अंगरक्षकों को आज्ञा दी कि मै इन उत्पाती ग्वालों को अपनी आंखों के सामने नही देखना चाहता। निकाल दो इन सब को यहा से, और छीन लो इनकी सब गायें।'

'कंस की इस खोखली आज्ञा को सुनकर कृष्ण मन ही मन मुस्कराये, और पापी को एक क्षण का भी अवसर न देकर रग-भूमि से कूदे, और सिहासन पर बैठे हुए कस के लम्बे-लम्बे केशों को हाथों से पकड़कर ऐसा झटका दिया कि वह बल का अभिमानी राजा लोथ की तरह लुढककर भूमि पर आ गिरा। तब कृष्ण ने केशों से घसीटते हुए उसे रगमच के कई चक्कर दिये,और अन्त में अत्याचारी के रक्त और धूल से सने हुए शरीर को मंच के मध्य मे फेक दिया।'

अत्याचारी कंस की मृत्यु के समाचार ने न केवल मथुरा में अपितु सारे भारतवर्ष में कृष्ण के यश को फैला दिया और शक्ति का सन्देश पहुंचा दिया।'योद्धाओं की प्रचलित पद्धति के अनुसार यह स्वाभाविक समझा गया कि कंस की मृत्यु के कारण रिक्त हुए सिहासन पर विजयी कृष्ण आसीन हों।'कंस का पिता उग्रसेन आंखों में आंसू लेकर कृष्ण के पास यह प्रार्थना लेकर आया कि 'हे वीर, आप अपने बाहुबल से जीते हुए मथुरा के राज्य का सुखपूर्वक उपभोग करो, मै तो केवल इतना चाहता हूं कि मुझे अपने पुत्र की अन्तिम क्रिया करने का अवसर दे दिया जाय।'इस प्रार्थना का कृष्ण ने उग्रसेन को जो उत्तर दिया, वह स्वर्ण-अक्षरों में लिखा जाने योग्य है। वह योगिराज कृष्ण के महान् जीवन की कुंजी है। विद्वानों और नरेशों की भरी सभा में कृष्ण ने उग्रसेन

को प्रेमपूर्वक उत्तर दिया—मैंने राज्य की इच्छा से कंस को नहीं मारा। मैंने उसे लोक-हित के लिए, और क्षत्रिय के योग्य यश की प्राप्ति के लिये मारा है। कंस कुल का कलंक था। मैं तो पहले की तरह गोपालों के साथ, गौओं से घिरा हुआ, जंगलों में सुख से विहार करूंगा, जैसे मस्त हाथी आनन्दपूर्वक स्वाधीनता से वन में विहार करता है। यादवों का राज्य तुम्हीं को सौंपता हूं। तुम ही यदुवंश के अग्रणी बनो।

इन शब्दों में हम भगवद्गीता में वर्णित निष्काम कर्म को केवल बीजरूप से नहीं, अपितु स्पष्ट व्यावहारिक रूप में देखते हैं। कृष्ण ने कंस का राज्य उसके पिता को सौंप दिया और स्वयं गोपजनों के साथ गोकुल चले गये।

वहां जाकर दोनों भाइयों ने सांगोपांग वेदों और शस्त्रास्त्र-विद्या की शिक्षा पूर्ण की। दोनों भाई कभी-कभी मथुरा भी जाते थे। मगध का राजा जरासंध कंस का साला लगता था। उसने जब सुना कि कृष्ण ने कंस को मार दिया है तो उसने बदला लेने के लिए मथुरा पर चढ़ाई कर दी। बलराम और कृष्ण को बल-प्रदर्शन का मानो मुंहमांगा अवसर मिला। बलराम अपना शस्त्र हल और कृष्ण शार्ङ्ग नाम का तेजस्वी धनुष लेकर युद्ध-भूमि में पहुंच गये। घमासान युद्ध होने लगा। अन्त में जरासन्ध को पराजित होकर रणक्षेत्र से हट जाना पड़ा। वह अपनी घायल और हारी हुई सेना को घसीटता हुआ मगध देश को वापिस चला गया।

यहां से कृष्ण की लोकहित में किये गये युद्धों की वह अद्भुत श्रृंखला प्रारम्भ होती है, जिसने उन्हें जहां एक ओर असुरारि-

मुरारि आदि वीरता-सूचक नामों से प्रसिद्ध किया, वहां साथ ही योगेश्वर, भगवान् आदि आध्यात्मिक महत्त्व की सूचक उपाधियों का भी अधिकारी बना दिया। इस आशंका से कि मथुरा के समीप रहने से कहीं राजनीतिक संघर्षों में न फंस जाना पड़े, कृष्ण अपने युद्ध के साथियों को लेकर समुद्र के किनारे एक सुन्दर से द्वीप में जा बसे; जहां अपनी अद्भुत प्रतिभा का प्रयोग कर उन्होंने संसार को चकित करने वाली द्वारकापुरी का निर्माण किया। परन्तु वहां बैठकर संसार से निश्चिन्त नहीं हो गये। जहां से किसी दीन-दुखिया की पुकार पहुंची, वहां कभी रथ पर आरूढ़ होकर, तो कभी पांव-प्यादे ही जा पहुंचे, और कष्ट का निवारण किया। उनके दूत चारों दिशाओं में घूमकर समाचार इकट्ठे करते रहते थे! देश के किसी भाग में, कोई राजा या आततायी, सज्जनों को और प्रजा को कष्ट दे रहा है, यह सुनते ही कभी अकेले, और कभी सेना को साथ लेकर वहां चढ़ाई कर देते और अत्याचारी का संहार कर उसके किसी योग्य सम्बन्धी को राजगद्दी पर बिठा देते। उन्होंने सैकड़ों आततायियों का संहार किया और बीसियों राजसिंहासन रिक्त किये, परंतु कभी किसीके राज्य अथवा वैभव का एक कण भी अपने पास नहीं रखा। कृष्ण का मुख्य शस्त्र सुदर्शन चक्र था, जिसका वार अचूक था। न जाने उस चक्र ने कितने दुर्दान्त अत्याचारियों के सिर धड़ से अलग किये थे। उसके कारण ही कृष्ण 'चक्री' और 'चक्रधर' कहलाते थे

चक्रधर ने जिन आततायी शत्रुओं का संहार किया, उनकी सूची बहुत लम्बी है। शृगाल, कालयवन, रुक्मी, नरक, निकुम्भ, वज्रनाभ आदि प्रचण्ड असुरों तथा लोक-शत्रुओं का नाश करने

के अतिरिक्त बाणासुर जैसे बहुत-से अजेय समझे जाने वाले दैत्यों को परास्त करके उनके पर झाड़ दिये। वे केवल मनुष्यों के कष्टों का ही निवारण नहीं करते थे, वरन् प्राणिमात्र उनसे रक्षा पाते थे। एक बार तालाब में नहाते हुए एक हाथी का पाँव ग्राह ने पकड़ लिया। इस पर हाथी चिल्लाया। उसकी चिल्लाहट दयावान् कृष्ण ने सुन ली। झटपट शरों द्वारा ग्राह को मारकर हाथी को छुड़ा दिया। ऐसे ही निःस्वार्थ कार्यों के कारण कवि ने कहा है——

धर्म संरक्षणार्थाय प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः।

'शार्ङ्ग धनुष को धारण करने वाले भगवान् कृष्ण का संसार में जन्म धर्म के संरक्षण के लिए ही हुआ था।' जिन दिनों कृष्ण द्वारका में रहकर दुष्टों के संहार द्वारा सज्जनों को अभयदान दे रहे थे, उन दिनों इन्द्रप्रस्थ में कुरुवंश के पाण्डव राजा युधिष्ठिर राज्य कर रहे थे। कृष्ण का और पांडवों का पारिवारिक संबंध बहुत पुराना था। पांडवों की माता कुन्ती यदुवंश के राजा शूर की कन्या थी। वह कृष्ण के पिता वसुदेव की बहिन थी। इस गहरे पारिवारिक सम्बन्ध के कारण पाँचों पाण्डवों में और कृष्ण में परस्पर स्वाभाविक प्रेम था। कृष्ण बड़े पाण्डव युधिष्ठिर को उनकी आयु और धार्मिक वृत्तियों के कारण अपना बुजुर्ग और गुरु मानते थे, भीम और अर्जुन से बराबर के भाइयों का-सा व्यवहार करते थे और नकुल तथा सहदेव को अपना वयस्क मानते थे। पाण्डवों से धार्तराष्ट्रों के वैर-भाव के कारण पाण्डवों पर जब कभी आपत्ति आती थी, तब कृष्ण उसके निवारण के लिए पहुंच जाते थे। सब भाइयों से समान प्रेम होते हुए भी समान आयु और

गुणों के कारण कृष्ण का प्रेम अर्जुन से अधिक था। उन दोनों में और सब भाइयों से भी अधिक गहरा बन्धुभाव था।

"एक बार द्वारका के समीप, रैवतक पर्वत पर, वृष्कायन्धकों का एक बड़ा उत्सव हुआ। उसमें दूर-दूर के स्नेही राजा और मित्र सम्मिलित हुए। अर्जुन भी कई दिनों तक वहाँ रहा। वहाँ रहते हुए उसका कृष्ण की बहिन सुभद्रा से परिचय हुआ। कृष्ण को उनके परस्पर प्रेम का पता चला तो उसने दोनों के विवाह की अनुमति दे दी। पहले तो कृष्ण के बड़े भाई बलराम उस विवाह से सहमत नहीं होते थे, परन्तु अन्त में कृष्ण ने समझा-बुझाकर उन्हें तथा कुल के अन्य वृद्धों को राजी कर लिया और राजकुल के योग्य धूमधाम से विवाह हो गया। इस विवाह-सम्बन्ध ने कृष्ण को पाण्डवों के अत्यन्त निकट पहुँचा दिया।"

महाराज युधिष्ठिर ने क्षत्रियों की प्राचीन परम्परा का पालन करते हुए राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया। सफलतापूर्वक राजसूय यज्ञ करने वाला राजा 'चक्रवर्ती सम्राट्' पदवी का अधिकारी हो जाता था। सारे देश में जो शासक सबसे अधिक प्रभावशाली हो, उसके चक्रवर्ती होने से यह लाभ था कि देश में एक व्यवस्था चलती थी, और सामन्तों के परस्पर युद्ध शान्त हो जाते थे। युधिष्ठिर ने अपने संकल्प की पूर्ति के लिए प्रिय सम्बन्धी और सखा कृष्ण से परामर्श और सहायता मांगी। कृष्ण ने प्रसन्नता से दोनों वस्तुएं दीं, परामर्श भी दिया और सहायता भी। सबसे बड़ी सहायता यह की कि मथुरा के राजा जरासन्ध को सेनाओं के युद्ध के बिना ही, भीमसेन से मल्ल-युद्ध करवाकर समाप्त

करा दिया। जरासन्ध बहुत उद्भट और प्रतापी योद्धा था। उसके मर जाने पर निश्चिन्त होकर युधिष्ठिर के चारों भाई चारों दिशाओं को जीतने के लिए निकल पड़े, और साम और दण्ड द्वारा विजयी होकर इन्द्रप्रस्थ में वापिस आ गये। 'जीते हुए तथा मित्र राजाओं से जो धन-राशि कर या उपहार के रूप में प्राप्त हुई, कोष में उसके रखने के लिए स्थान नहीं था। अतिरिक्त राशि दरिद्रों और योग्य ब्राह्मणों में बांट दी गयी।'

धूमधाम से राजसूय यज्ञ सम्पन्न हुआ। उसमें पृथ्वी भर से निमंत्रित राजा और विद्वान् एकत्र हुए। 'हस्तिनापुर से द्रोण, कर्ण, दुर्योधन तथा उसके सब भाई भी आये थे। यज्ञ का अपूर्व समारोह हुआ, जिसके अन्त में महाराज युधिष्ठिर ने इतना दान दिया कि कोष खाली हो गये। 'उस यज्ञ में भीष्म पितामह के प्रस्ताव पर जब महाराज युधिष्ठिर सबसे पहले योगिराज कृष्ण का अर्चन करने लगे, तो ईर्ष्यालु शिशुपाल भड़क उठा और लगा कृष्ण को गालियां बकने। युधिष्ठिर ने शिशुपाल को शान्त करने का बहुत यत्न किया, अनुनय-विनय की, परन्तु उसने एक न मानी और अपशब्द बोलता ही गया। 'शिशुपाल कृष्ण का निकट सम्बन्धी था। इस कारण वे शिशुपाल के सौ तक अपराधों को क्षमा करने की प्रतिज्ञा कर चुके थे। जब गालियों की संख्या सौ से बढ़ गई तो पापी को दण्ड देने का समय आया जानकर कृष्ण ने सुदर्शन चक्र को हाथ में लिया। शिशुपाल तब भी शान्त न हुआ, और अपशब्द कहता गया तो चक्रधर ने चक्र द्वारा शिशुपाल का सिर धड़ से अलग कर दिया। 'पापियों को कंपाता और सज्जनों को निःशंक करता हुआ शिशुपाल का कटा

हुआ शरीर भूमि पर गिर पड़ा। इस प्रकार समय आने पर भगवान् के हाथों एक और दुष्ट का संहार हो गया।

राजसूय यज्ञ में पाण्डवों की विभूति को देखकर धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन के मन में अत्यन्त ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वह अपने निकट संबंधियों का पुराना शत्रु था। उसने अपने मामा शकुनि की सहायता से और अपने अन्धे पिता की अनुमति से जुए का आयोजन किया, जिसमें युधिष्ठिर को हराकर उससे सारा राज-पाट छीन लिया। पाण्डवों को द्रौपदी सहित बारह वर्षों का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास प्राप्त हुआ। वे लोग धर्म की मर्यादा का पालन करने के लिए बड़े-बड़े कष्टों को शान्तिपूर्वक सह लेते थे। पाण्डवों ने बारह वर्षों का वनवास भी पूरा कर लिया, और विराट्नगर में एक वर्ष का अज्ञातवास भी काट लिया। जब नियत अवधि की समाप्ति पर प्रकट होकर पाण्डवों ने अपना राज्य वापिस मांगा तो दुर्योधन ने देने से साफ इन्कार करते हुए कहला भेजा कि तुम तो क्षत्रिय हो, आगे बढ़ो, और पराक्रम से राज्य ले लो। मांगने से राज्य नहीं मिला करते।

महाराज युधिष्ठिर स्वभाव से शान्ति-प्रेमी थे। उन्हें युद्ध करना अच्छा नहीं लगा। उन्होंने निश्चय किया कि दुर्योधन के पास शान्ति का और सुलह का सन्देशा लेकर ऐसे दूत को भेजा जाय जिसका सब लोग सम्मान करें, और दुर्योधन भी जिसकी बात को टालने का साहस न करे। योगेश्वर कृष्ण से बढ़कर प्रभावशाली और उपयुक्त दूत कौन मिलता! युधिष्ठिर ने उनके हाथ सन्धि का जो सन्देश भेजा, वह बहुत नम्र और सौम्य था। उन्होंने कहला भेजा कि हम पांच भाइयों को इन्द्रप्रस्थ, वृकप्रस्थ

आदि केवल पांच नगर दे दो, शेष सारा साम्राज्य तुम अपने पास रख लो, हम उनमें ही निर्वाह कर लेंगे। दुर्योधन ने युधिष्ठिर की इस अद्भुत मांग का जो उत्तर दिया, वह अभिमानी और अदूरदर्शी शासकों की मनोवृत्ति का एक बढ़िया नमूना था। उसने उत्तर दिया--

'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !

अर्थात्, हे केशव, सूई की नोक से भूमि का जितना भाग बीन्धा जा सकता है, मैं उतना भाग भी युद्ध के बिना देने को तैयार नहीं हूं।

'अपने प्राणों को संकट में डालकर, युद्ध-सज्जा से उत्तेजित हस्तिनापुर में पहुंचकर, दुर्योधन जैसे दुरभिमानी और विवेकहीन राजा के दरबार में सच्चा सन्देश पहुंचाना बड़े बूते का काम था। कृष्ण जैसा निष्काम धर्म का पालन करने वाला आत्म-विश्वासी व्यक्ति ही उसे कर सकता था।'

"दुर्योधन ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा और अन्त में महाभारत का वह वीर-संहारकारी महायुद्ध होकर रहा, जो भविष्य में आने वाले सर्वनाशकारी महायुद्धों के लिए एक खूनी दृष्टान्त स्थापित कर गया।"

• कृष्ण की शक्ति पर पाण्डवों और कौरवों दोनों को विश्वास था। दोनों उनके सम्बन्धी और आत्मीय थे। प्रश्न यह था कि वे किसका साथ देंगे। "धर्म पाण्डवों की ओर था, और अनधिकार-चेष्टा कौरवों की ओर। इस कारण कृष्ण ने बीच का रास्ता निकाल लिया। अपनी सेना तो कौरवों को दे दी और स्वयं इस प्रतिज्ञा के साथ पाण्डवों की ओर चले गये कि शस्त्र ग्रहण करके

युद्ध न करेंगे, केवल अर्जुन के सारथि बनेंगे।

कुरुक्षेत्र के मैदान में वह संहारकारी भयानक संग्राम १८ दिनों तक हुआ। दुर्योधन की ओर द्रोण, कर्ण और भीष्म जैसे महारथी थे तो पाण्डवों के पक्ष में केवल शस्त्रहीन कृष्ण थे। दोनों ओर बहुत से सम्बन्धी और सहायक राजा, अपनी अक्षौहिणी सेनाओं को साथ लेकर युद्ध में भाग लेने आये थे, परन्तु असली संघर्ष कर्ण और अर्जुन में, और दुर्योधन और भीम में था। दोनों टक्करें बराबर की थीं। इन दोनों ही द्वन्द्व-युद्धों में पांडवों को जो विजय प्राप्त हुई, उसका जितना श्रेय योद्धाओं को था, उससे अधिक श्रेय कृष्ण को था। पाण्डव अपनी आपत्तियों को समाप्त न कर सकते यदि कृष्ण की चमत्कारिणी प्रतिभा उनका साथ न देती। भगवान् कृष्ण ने भरसक यत्न किया कि युद्ध रुक जाय, परन्तु जब दुर्योधन के हठ ने युद्ध को अनिवार्य कर दिया तो कृष्ण ने धर्म की विजय और अधर्म की पराजय के लिए पूरी शक्ति लगा दी। युद्ध के आरम्भ में ही भीष्म और द्रोण ने युधिष्ठिर को आश्वासन दे दिया था कि चाहे हम कितना ही अच्छा संग्राम करें, जीत तुम्हारी ही होगी।

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।

अर्थात्, कृष्ण उस पक्ष में होते हैं, जिधर धर्म हो, अतएव जिधर कृष्ण होंगे, जीत उसी पक्ष की होगी।

युद्ध के आरम्भ में मार-काट की भयानकता से घबराये हुए अर्जुन को उत्साहित करके कर्तव्यपालन में लगाने के लिए योगेश्वर कृष्ण ने जो अमर उपदेश दिया था, उसे व्यास मुनि ने भगवद्गीता के रूप में ग्रथित किया है। गीता में उन सिद्धान्तों की

व्याख्या है, जिनके अनुसार स्वयं कृष्ण ने अपना परहितकारी जीवन व्यतीत किया। भगवान् ने गीता में योग और कर्म की जो दिव्य व्याख्या की है, वह सदा मनुष्य जाति के लिए पथ-प्रदर्शक का काम देगी।"

महात्मा बुद्ध

: ३ :

महात्मा बुद्ध

पृथ्वी पर जितने मत प्रचलित हैं, उनमें से सबसे अधिक विस्तार बौद्ध मत का है। बौद्ध मत के अनुयायी छोटे-बड़े अठारह देशों में फैले हुए हैं, जिनमें चीन, जापान, बर्मा, कोरिया आदि देश तो मुख्य रूप से बौद्ध हैं। शेष देशों में भी उनकी संख्या कम नहीं। विस्तार की दृष्टि से जिस मत का दूसरा नम्बर है, वह ईसाइयत है। मात्रा में बौद्ध मत के माननेवाले ईसाइयत में विश्वास रखने वालों से अत्यधिक नहीं, दुगने तो अवश्य हैं। बौद्ध मत इस समय एक अलग मज़हब या सम्प्रदाय के रूप में प्रकट हो रहा है, परन्तु वस्तुतः वह आर्य-धर्म का ही एक अंग था। उसके मौलिक सिद्धान्त, उसकी परिभाषाओं और प्रणाली आदि पर दृष्टि डालें तो इसमें सन्देह नहीं रहता कि वह आर्य-धर्म का ही एक सुधरा हुआ रूप था।

जिस बौद्ध मत ने मनुष्य जाति के इतने बड़े भाग की आत्मा पर अपना अधिकार जमाया हुआ है, उसके आदि-गुरु गौतम बुद्ध का जन्म, शाक्य वंश की राजधानी कपिलवस्तु में, ईसा से लगभग ५५० वर्ष पहले हुआ था। कपिलवस्तु, बनारस से उत्तर की ओर लगभग १३० मील की दूरी पर, रोहिणी नदी के तट पर बसा हुआ था। हिमालय के स्पर्श से शीतल पवन द्वारा रोमांचित उस

सुन्दर नगर में शाक्य वंश का राजा शुद्धोदन राज्य करता था। उसकी दो रानियां थीं। दोनों परस्पर बहिनें थीं। बड़ी आयु तक उसके कोई संतान नहीं हुई। जब राजा वृद्धावस्था को छू रहा था, तब उसकी बड़ी रानी गर्भवती हुई। पुरानी प्रथा के अनुसार प्रसव के लिए रानी को मायके ले जाया जा रहा था कि मार्ग में ही, लुम्बिनी के प्रसिद्ध उपवन में प्रसव-पीड़ा आरम्भ हो गई और वहीं संसार को विशुद्ध जीवन और अहिंसा का सन्देश देने वाले महात्मा बुद्ध ने जन्म लिया। पुत्र-जन्म के सातवें दिन उसकी माता मर गई, और शिशु के पालन-पोषण का बोझ छोटी रानी पर पड़ा। छोटी रानी ने अपनी बड़ी बहिन से मिली हुई धरोहर की बहुत प्रेम और आत्मीयता के साथ देखभाल की। बालक का नाम सिद्धार्थ रखा गया।

सिद्धार्थ प्रारम्भ से ही एकान्तप्रिय और विचारशील बालक था। वह अन्य राजकुमारों की भांति आमोद-प्रमोद या शिकार आदि में रस नहीं लेता था। कुछ प्रतिष्ठित नागरिक राजा शुद्धोदन के पास यह शिकायत लेकर पहुंचे कि आपका कुमार राजवंश के योग्य कार्यों से उदासीन रहता है। राजा को चिंता हुई, उसने सिद्धार्थ की प्रवृत्तियों को बदलने के लिए शस्त्र-विद्या के विशाल साम्मुख्य की योजना की। सब लोगों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि तलवार, वाण तथा अन्य शस्त्रों के प्रयोग में सिद्धार्थ ने अपने सब प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर दिया।

राजा की एक चिन्ता तो दूर हो गई, परंतु दूसरी चिन्ता बनी रही। दूसरी चिन्ता यह थी कि जो राजकुमार कुछ समय पीछे युवराज बनने वाला है, वह संसार से सर्वथा विरक्त और अलग-

अलग रहता है। राजा ने सिद्धार्थ को संसार के बन्धन में बांधने के लिए उसका एक उच्चवंश की राजकुमारी यशोधरा से विवाह कर दिया। परन्तु सिद्धार्थ की वैराग्य की ओर झुकी हुई अंतरात्मा को पत्नी का प्रेम भी संसार की ओर न ला सका। अन्दर की बेचैनी और जिज्ञासा बढ़ती ही गई। यहां तक कि विवाह को हुए दस वर्ष व्यतीत हो गये और सिद्धार्थ की आयु उनतीस वर्ष की हो गई, तो भी वह परिवार में ऐसे ही रहता था, जैसे जल में कमलपत्र रहता है।

वह ज्यों-ज्यों संसार की दशा को देखता था, त्यों-त्यों उसका मन विरक्त होता जाता था। उसकी दृष्टि जिधर पड़ती थी, उधर व्याकुलता और दु:ख के दृश्य दिखाई देते थे। उसने एक बूढ़े को लठिया लेकर जाते देखा, जिसकी कमर झुक गई थी, मुंह में दांत नहीं थे, और शरीर हड्डियों का पिंजरमात्र रह गया था। कुछ दिन पीछे उसने एक रोगी को देखा, जो असह्य वेदना से कराह रहा था। उसने तीसरा दृश्य मृतक की शव-यात्रा का देखा। वह जिन लोगों का निकटतम सम्बन्धी था, वही उसे कपड़ों में बान्धकर और कन्धों पर उठाकर अंतिम संस्कार के लिए ले जा रहे थे। इन तीनों दृश्यों ने सिद्धार्थ के कोमल हृदय पर बहुत गहरी चोट की और वह व्याकुल हो उठा। उस समय उसे एक शान्त मुखाकृति वाले योगी की मूर्ति दिखाई दी, जिसने उसके दु:खित हृदय को शान्ति का शीतल जल डालकर ढाढ़स दे दिया, मानो गहरे अन्धकार में ज्ञान का दिया जलाकर ठीक रास्ता दिखा दिया हो।

जिस समय सिद्धार्थ का मन ऐसे बड़े परिवर्तन के युग में से

गुजर रहा था, उसे पुत्रोत्पन्न होने का समाचार प्राप्त हुआ। जातक ग्रन्थों में लिखा है कि पुत्र होने का समाचार सुनकर सिद्धार्थ ने कहा था कि यह एक नया बन्धन पड़ गया, जो मुझे तोड़ना पड़ेगा। अब तो सिद्धार्थ का मन संसार के भोगों से दूर भागकर अनन्त सुख प्राप्त करने के लिए उतावला हो उठा, और वह रात्रि की निस्तब्धता में, माता-पिता के स्नेह, पत्नी के प्रेम और पुत्र के वात्सल्य को तिलांजलि देकर घर से बाहर हो गया। कुछ दूर तक का मार्ग तो घोड़े की पीठ पर तय किया, परन्तु फिर उसमें भी बन्धन का अंश पाकर घोड़े को सारथी के साथ कपिलवस्तु वापिस भेज दिया और स्वयं फूलों की शय्या पर पला हुआ नव-युवक, अमृत की खोज के लिये, कांटों और वन्य पशुओं से भरे हुए जंगल के रास्ते से मगध की राजधानी राजगृह की ओर चल पड़ा।

राजगृह के पास के जंगलों में आलग और उद्रक नाम के दो प्रसिद्ध तपस्वी रहते थे। सिद्धार्थ ने उनकी शिष्यता स्वीकार कर ली। उन्होंने सिद्धार्थ को जहां एक ओर दार्शनिक विचारों से परिचित कराया, वहां साथ ही दुःख से मोक्ष प्राप्त करने के लिए तप करने का उपदेश किया। जिज्ञासु ने गुरु के उप-देश को सिर नवाकर स्वीकार किया और ऐसा कठिन शारीरिक तप आरम्भ कर दिया कि पुराने-पुराने तपस्वी भी आश्चर्य में पड़ गये। जिस स्थान पर सिद्धार्थ ने घोर तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का यत्न किया, वह उरूवेल के नाम से प्रसिद्ध था। उस समय के धर्माचार्य अपने शरीर को कष्ट देने का नाम ही तपस्या मानते थे। सिद्धार्थ ने अपने शरीर को भूख-प्यास और गर्मी-सर्दी के आक्रमणों के लिए खुला छोड़कर इतना निर्बल कर दिया कि

अन्त में वह चलते-चलते मूर्च्छित होकर गिर पड़ा ।

इस शारीरिक मूर्च्छा ने जिज्ञासु की मानसिक मूर्च्छा को तोड़ दिया। वह सचेत होकर सोचने लगा की यदि केवल शारीरिक तप में दुःख से मुक्त करने की शक्ति होती तो मुझे अब तक मुक्त हो जाना चाहिये था। इस विवेचन ने सिद्धार्थ को निश्चय करा दिया कि केवल शारीरिक तप आत्मतत्त्व की प्राप्ति का सही रास्ता नहीं है। तब सीधा रास्ता कौन सा है ? सिद्धार्थ का मन इस प्रश्न पर चिरकाल तक विचार करता रहा। जो सन्तोष घोर शारीरिक तप और शास्त्रों के श्रवण से नहीं मिला था, वह अब मनन और विचार से मिलने लगा। अन्तरात्मा में विचार करने से सन्देह के बादल फटने लगे, और एक दिन, जब सिद्धार्थ, एक वट वृक्ष के नीचे बैठकर देर तक चिन्तन कर रहा था, उसने अनुभव किया कि "मैंने सत्य को जान लिया है, और मैं 'बुद्ध' अर्थात् 'ज्ञानवान्' हो गया हूं।" उस क्षण से सिद्धार्थ गौतम 'बुद्ध' हो गया। वह उस वृक्ष के नीचे से उठा और प्राप्त किये हुए सत्य को मनुष्य मात्र तक पहुंचाने के लिए विद्वानों की नगरी काशी की ओर चल पड़ा।

जिस सत्य के ज्ञान ने सिद्धार्थ के मन को सन्तोष का सुख प्रदान किया, और जिसने उसे 'बुद्ध' पदवी के योग्य बनाया, वह सत्य क्या था ? वह कोई नया सत्य नहीं था। वह वही पुराना और विश्वव्यापी सत्य था, जिसे भारत के ऋषि लोग सदा से कहते आये थे। वह सत्य सैकड़ों रूढ़ियों और हज़ारों भ्रान्त विचारों से बुरी तरह ढक गया था। महात्मा बुद्ध ने अपनी प्रतिभा से सारा कूड़ा-करकट हटाकर सत्य

के असली रूप को स्वयं देख लिया और वही रूप सभी को दिखा दिया। यही मनुष्यजाति का सब से बड़ा उपकार था।"

महात्मा बुद्ध ने सत्य-ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर मनुष्यों को धर्म का स्वरूप बतलाया——पाप न करना, पुण्य संचय करना और अपने चित्त को शुद्ध रखना, यही धर्म का सार है। बुद्ध की मुख्य शिक्षाएं ये हैं :

(१) किसी की हिसा न करना
(२) किसी की निदा न करना
(३) अपने को सयम मे रखना
(४) परिमित भोजन करना
(५) अकेले शयन और आसन करना
(६) चित्त को सदा सत्कार्य में लगाये रखना ।

प्रत्येक मनुष्य को जानने योग्य चार आर्य सत्य ये है——

(१) संसार मे दु ख की अधिकता है।

(२) दुःख का कारण विषयों की तृष्णा या वासना है।

(३) दुःख से मुक्ति पाने का उपाय यह नही कि शरीर को कष्ट दिये जाएँ, अपितु यह है कि तृष्णा का त्याग किया जाए।

(४) दुःख से छूटने के लिए मनुष्य को जिस मार्ग पर चलना चाहिये, उसके आठ अंग है :——

(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वचन (४) सम्यक् कर्म (५) सम्यक् आजीविका (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति, और (८) सम्यक् समाधि या आत्मचिन्तन ।

यह था सम्यक् अर्थात् सच्चा और सरल, व्यावहारिक धर्म,

जिसका उपदेश देने के लिए महात्मा बुद्ध उस स्थान से, जो अब 'बुद्ध गया' के नाम से प्रसिद्ध है, बनारस को चले गये। बनारस के समीप उस स्थान पर, जहां अब सारनाथ का मन्दिर है, गौतम बुद्ध को उनके पुराने पांचों शिष्य मिले। पहले तो बुद्ध को देखकर उनके मन में उदासीनता का भाव उत्पन्न हुआ। वे सोचने लगे कि यह तपोभ्रष्ट व्यक्ति क्या धर्मोपदेश करेगा! परन्तु जब उनकी दृष्टि महात्मा के मुखमण्डल पर पड़ी तो उन पर जादू का-सा असर हुआ। प्रकृति ने गौतम को चक्रवर्तियों के लक्षणों से युक्त विशाल और सुन्दर मुखमण्डल दिया था। उन की आंखों में असाधारण शान्त तेज था। वे शिष्य गौतम बुद्ध के दिव्य चेहरे से ही बहुत प्रभावित हुए, और उन्होंने जब लोकभाषा में उनके शान्तिदायक उपदेश सुने तब तो उनके पूरे शिष्य बन गये। उस समय बुद्ध ने जो घोषणा की, उसका निम्नलिखित आशय था :—

मैं अब धर्मचक्र को प्रगति देने लगा हूं,
और इसी उद्देश्य से बनारस जा रहा हूं।
जो अन्धकार में पड़े हैं, मैं उन्हें प्रकाश दूंगा,
और उनके लिये अमृतत्व का द्वार खोलूंगा।

सारनाथ से बुद्ध बनारस पहुंचे और वहां 'मृगदाव' नाम के स्थान पर निवास करते हुए उपदेश करते रहे। उनका व्यक्तित्व महान् और आकर्षक था। प्रचार के लिए वे विद्वानों की संस्कृत भाषा को छोड़कर सर्वसाधारण की लोकभाषा का प्रयोग करते थे। और जिस धर्म का वह उपदेश देते थे, वह प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाला, सरल, सच्चा मार्ग था, इस कारण उनके

शिष्यों की संख्या दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती गई। बोध-प्राप्ति के पांच मास की समाप्ति पर उनके पक्के अनुयायियों की संख्या इतनी हो गई कि उनमें से चुने हुए साठ शिष्यों को आचार्य ने प्रचार के लिए चारों दिशाओं में भेज दिया।

इसके पश्चात् गौतम बुद्ध स्वयं देशव्यापी प्रचार में लग गये। वे वर्ष में आठ महीने एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करके उपदेश देने में व्यतीत करते थे, और चौमासे के चार महीनों में किसी एक स्थान पर ठहरकर साधना और प्रवचन द्वारा अपने शिष्यों की योग्यता बढ़ाने का आयोजन करते थे।

जैसे पानी में तेल के फैलने में देर नहीं लगती, महात्मा बुद्ध का यश और प्रभाव थोड़े ही समय में देश भर में फैल गया। जब आप अपनी शिष्य-मण्डली के साथ मगध की राजधानी राजगृह में पहुंचे, तो वहां का प्रतापी राजा बिम्बिसार स्वागत के लिए नगर के बाहर आया, और आचार्य का उपदेश सुनकर तत्काल उनका शिष्य हो गया। इस प्रकार अनायास ही महात्मा बुद्ध द्वारा प्रचारित धर्म को एक प्रभावशाली राजा का आश्रय मिल गया।

राजगृह की यात्रा के पश्चात् महात्मा बुद्ध के यश और उपदेश, दोनों का विस्तार बड़ी ही तीव्र गति से होने लगा। वे जहां जाते, वहां के धनी और निर्धन, सब उनके दर्शन करने और उपदेश सुनने के लिए एकत्र होते। वे उस समय की लोकभाषा में उपदेश देते थे। उनके दरबार में ब्राह्मण या शूद्र, राजा या रंक में कोई भेद नहीं था। वह उन लोगों के घर पर जाकर उपदेश देने में भी संकोच नहीं करते थे, जिन्हें समाज 'वेश्या'

या 'पतिता' कहता था। वे उनसे मिलते, उन्हें उपदेश देते, और उन्हें सन्मार्ग पर लाते थे।" बुद्ध एक बार अपनी प्रचार-यात्रा के प्रसंग में कपिलवस्तु जा पहुंचे। उनकी ख्याति वहां उनसे पहले ही पहुंच चुकी थी। जब वे नगर के समीप पहुंचे तो उनके पिता, चचा आदि सम्बन्धी अगुआनी के लिए नगर से बाहर आये और उन्हें आदरसहित ले गये। रात के समय आचार्य ने आश्रम में विश्राम किया और दूसरे दिन प्रातःकाल भिक्षा का पात्र हाथ में लेकर शिष्योंसमेत नगर में भिक्षा मांगने के लिए निकल पड़े। जब यह समाचार शुद्धोदन को मिला, तो उसने आकर बुद्ध से कहा कि "आचार्य ! आप हमें लज्जित क्यों करते हैं ? आप भोजन की भिक्षा मांगने क्यों जाते हैं ?"

आचार्य ने उत्तर दिया, "महाराज, यह हमारे कुल की प्रथा है।"

पिता ने उत्तर दिया, "हम क्षत्रियों के प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न हुए हैं, हमारे किसी पूर्वज ने कभी भीख नहीं मांगी।"

इस पर आचार्य ने कहा—

"आप और आपके सम्बन्धी राजाओं के कुल में उत्पन्न होने का दावा कर सकते हैं, परन्तु मैं तो बुद्धों के वंश में उत्पन्न हुआ हूं, और बुद्ध लोग सदा भिक्षा मांग कर ही भोजन करते रहे हैं।"

इस पर राजा मौन हो गये और भिक्षा के पात्र को पकड़कर आचार्य और उनके शिष्यों को अपने महल में ले गये, जहां भिक्षा से उनके पात्र को भर दिया।

जब बुद्ध महल में गये, तो अन्य सभी सम्बन्धी उपस्थित थे, केवल उनकी पत्नी यशोधरा नहीं थी। घर के लोगों ने यशोधरा

से भी आचार्य के सामने जाकर नमस्कार करने की प्रेरणा की, परन्तु वह उद्यत नहीं हुई। यशोधरा ने कहा, "यदि उनकी दृष्टि में मेरा कोई मूल्य है तो वे स्वयं मेरे पास आयेंगे। मैं यहीं उनका सत्कार भली प्रकार कर सकती हूं।"

जब आचार्य को यशोधरा के संकल्प की सूचना मिली तो वे स्वयं दर्शन देने के लिए अन्तःपुर में चले गये। उनकी तेज से देदीप्यमान मूर्ति को देखकर यशोधरा का मान लुप्त हो गया और वह उठकर आचार्य के चरणों में गिर पड़ी। आचार्य ने उसे उठने को कहा और आश्वासन दिया कि जब हम अपने संघ में स्त्रियों को प्रविष्ट करना प्रारम्भ करेंगे तब तुम्हें भी उसमें ले लेंगे। धीरे-धीरे राजकुल के अन्य व्यक्ति और स्वयं आचार्य का पुत्र राहुल भी शिष्यवर्ग में सम्मिलित हो गया।

गौतम बुद्ध ने लगभग चालीस वर्ष की आयु में धर्मचक्र-प्रवर्तन प्रारम्भ किया था। वे चालीस वर्ष तक निरन्तर घूम कर अपना सन्देश मनुष्य जाति को सुनाते रहे। इसी बीच में धर्म के सन्देश को चारों ओर फैलाने के लिए आपने भिक्षुओं के लिए संघ की स्थापना की। संघ के भिक्षुओं के लिए जो नियम बनाये गये, वे काफी कठोर थे। वे पीले वस्त्र धारण करते थे। उन्हें ब्रह्मचारी रहना पड़ता था, और शुद्ध, निर्दोष जीवन व्यतीत करते हुए भिक्षा द्वारा जीवन-यापन की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। आचार्य ने भिक्षुओं को विनीत और सर्वत्यागी रहने का आदेश दिया था। जब किसी शिष्य को संघ में प्रविष्ट किया जाता था तब उससे तीन प्रतिज्ञाएं ली जाती थीं।

बुद्धं शरणं गच्छामि
धम्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि

मैं बुद्ध, धर्म और संघ की शरण जाता हूं।

उपासकों को जिन आठ नियमों का पालन करना पड़ता था वे निम्नलिखित थे: (१) हिंसा न करना। (२) दूसरे की वस्तु न लेना। (३) झूठ न बोलना। (४) मादक पदार्थों का सेवन न करना। (५) सदाचारी रहना। (६) रात्रि के सभय दुष्पच भोजन न करना। (७) सुगन्धित मालाओं या तेलादि का प्रयोग न करना। (८) भूमि पर चटाई डालकर उस पर सोना।

ये नियम बहुत अशों में योग के यम-नियमों के समान हैं।

इस प्रकार चालीस वर्ष तक सरल, व्यावहारिक धर्म का सन्देश मनुष्य जाति को सुना कर और उस सन्देश को संसार भर में फैलाने के लिए दृढ़ संगठन को सुसज्जित करके चौरासी वर्ष की आयु में कुशीनारा नगर के समीप, हिरण्यवती नदी के तट पर, एक विशाल शाल वृक्ष के नीचे शिष्यों को अन्तिम उपदेश देकर महात्मा बुद्ध ने प्राण विसर्जन कर दिये। उनके पश्चात् उनके योग्य अनुयायियों ने जिस तत्परता से उनका सन्देश संसार के कोने-कोने में पहुंचाया, उसके लिए बौद्ध मत के वर्तमान विस्तार पर दृष्टि डालना ही पर्याप्त है।

महर्षि दयानन्द

: ४ :

महर्षि दयानन्द

अपने समय के महान् सुधारक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म विक्रम सं० १८८१ में सौराष्ट्र प्रदेश के टंकारा नामक ग्राम में हुआ था। उनका पहला नाम मूलशंकर था। मूल नक्षत्र में उत्पन्न होने से सौराष्ट्र की प्रथा के अनुसार उनका नाम मूलशंकर रखा गया, परन्तु घर में उनका प्रचलित नाम दयाराम था। पूरा नाम सम्भवतः मूलजी दयाराम रहा होगा। संन्यास लेने के समय स्वामी जी ने अपना नाम 'दयानन्द' रक्खा, ताकि बचपन के व्यावहारिक नाम की स्मृति जीवित रह सके।

मूलशंकर के पिता का नाम कर्सनलाल जी त्रिवेदी था। वह मौर्वी राज्य की ओर से गांव के जमादार (तहसीलदार) थे। औदीच्य ब्राह्मण होने पर भी उनके घर पर भिक्षावृत्ति नहीं होती थी। वह शिव के उपासक थे।

बचपन में मूलशंकर की शिक्षा उसी प्रकार की हुई, जैसी एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए बालक की होनी चाहिये। संस्कृत का व्याकरण, रुद्राध्यायी, तथा यजुर्वेद संहिता का अध्ययन, उस समय एक ब्राह्मण के पुत्र का अपने कुल-क्रमागत धर्म का पालन करने के लिए आवश्यक समझा जाता था। उतनी शिक्षा मूलशंकर ने तेरह वर्ष की अवस्था तक प्राप्त कर ली थी।

आयु का १३वां वर्ष समाप्ति पर था, जब १८९४ विक्रमी

के माघ मास की १४वीं तिथि को मूलशंकरके जीवन में वह घटना घटित हुई, जिसने उसके जीवन का प्रवाह पलट दिया। प्रचलित रूढ़ियों के कारण जो जीवन-प्रवाह नीचे की ओर जा रहा था, आत्म चेतना ने उसे मानो बलवान् धक्का देकर ऊपर की ओर गतिमान् कर दिया। शिवरात्रि के अवसर पर धर्मपरायण शिव-भक्त प्रायः दिन के समय उपवास करते है और रात्रि के पूर्वार्द्ध में जागरण रखते है। गुरु और पिता की इच्छा थी कि बालक मूलशंकर भी शिवरात्रि के व्रत का पूरी तरह पालन करे। माता उसके विरुद्ध थी, परन्तु माता की न चली, और मूलशंकर को उपवास और जागरण की परीक्षा में डाल दिया गया।

दिन तो बीत गया, परन्तु जब रात्रि का समय आया, और शैव लोग मन्दिर में एकत्र होकर जागरण के लिये बैठे तो मूलशंकर को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि बड़े-बड़े धर्म-धुरन्धर लोग, जिनमें उनके पिता भी सम्मिलित थे, नीद को न रोक सके, और खुर्राटे भरने लगे। बालक मूलशंकर में बचपन से विश्वास और विचारों की दृढ़ता के बीज विद्यमान थे। वह जिस दृढ़ता से दिन भर भूखा रहा था, उसी दृढ़ता से रात भर जागने के लिए बैठ गया।

भक्त लोगों के सो जाने पर मन्दिर में निस्तब्धता छा गई, तो मन्दिर के कोने से एक चूहा निकला, और शिवलिंग पर चढ़े हुए पदार्थों को काटने-कुतरने लगा। मूलशंकर ने गुरुजी से सुन रखा था कि भगवान् शिव की शक्ति अपार है, उनके त्रिशूल से जगत कांपता है, और जब वह क्रोध में आते हैं तो त्रिलोकी का

संहार कर देते हैं। एक तुच्छ चूहे को उनकी मूर्ति पर निःशंक चढ़ते देखकर बालक के मन में कारण जानने की अभिलाषा उत्पन्न हुई तो उसने अपने पिता को जगाया, और उनके सामने अपनी जिज्ञासा रखी। पिता ने बच्चे के प्रश्न को केवल बचपन और मूर्खता का परिणाम माना और उसे डांट-फटकार दिया। मूलशंकर की वाणी चुप हो गई परन्तु मन चुप नहीं हुआ। उसमें संशय और जिज्ञासा का तूफान-सा उठने लगा। तूफान से बेचैन मन के साथ मूलशंकर के लिए मन्दिर में बैठना असम्भव हो गया, तो वह घर चला गया, और खाना खाकर सो गया।

उस रात की घटना के कारण मूलशंकर के मन में जो जिज्ञासा उत्पन्न हुई, वह वस्तुतः भावी तत्त्व-ज्ञान का बीज बन गई। वह बीज जब एकसार उपजाऊ भूमि में पड़ गया, तो जीवन की प्रत्येक घटना उसके लिये जल का काम देने लगी। १६वर्ष की अवस्था में जो घटना हुई, उसका वर्णन स्वामी जी ने अपने आत्म-चरित्र में इस प्रकार किया है --

"मेरी १६ वर्ष की आयु के पीछे मेरी १४ वर्ष की बहन थी। उसे हैज़ा हुआ। एक रात्रि में, जिस समय नाच हो रहा था, नौकर ने खबर दी कि उसे हैज़ा हुआ है। तब सब जन वहाँ से तत्काल आये और वैद्य आदि बुलाये। औषधि भी की तथापि चार घण्टे में उसका शरीर छूट गया। जन्म से लेकर उस समय तक मैंने यही प्रथम बार मनुष्य को मरते देखा था। इससे मेरे हृदय पर वज्रपात हुआ। सब लोग रोने लगे। मुझको रोना तो नहीं आया, परन्तु मेरे मन में भय उत्पन्न हुआ कि देखो, संसार में कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार किसी दिन मैं भी मर जाऊंगा। इसलिए

कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे जन्म-मरण-रूपी बन्धनों से छूटकर मुक्ति हो। यह विचार मन में रखा। किसी से कुछ कहा नहीं।"

१९ वर्ष की आयु में ऐसी ही दूसरी घटना हुई। उसका वर्णन भी स्वामी जी के अपने शब्दों में सुनिये——

"इतने में उन्नीस वर्ष की अवस्था हो गई। तब जो मुझसे अति प्रेम रखने वाले, बड़े धर्मात्मा, विद्वान् मेरे चाचा थे उनको विषूचिका ने आ घेरा। मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे। मैं भी समीप ही बैठा हुआ था। मेरी ओर देखते ही उनकी आंखों से अश्रु बहने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, यहां तक कि रोते-रोते मेरी आंखें फूल गईं। इतना रोना मुझे पूर्व कभी न आया था। उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं भी चाचाजी के सदृश एक दिन मरने वाला हूं। उनकी मृत्यु से अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हुआ कि संसार में कुछ भी नहीं। परन्तु यह बात माता-पिता से तो नहीं कही। अन्य मित्रों से कहा कि मेरा मन गृहस्थाश्रम नहीं करना चाहता। उन्होंने माता-पिता से कहा। माता-पिता ने विचार किया कि इसका विवाह शीघ्र कर देना ठीक है। जब मुझे मालूम हुआ कि बीस वर्ष में ही मेरा विवाह कर देंगे, तब मित्रों से कहा कि हमारे पिता तथा माता से कहो कि अभी मेरा विवाह न करें। फिर उन्होंने एक वर्ष जैसे-तैसे विवाह रोका।"

यह थी वह कारणों की शृंखला, जिसने मूलशंकर के हृदय में आकर वैराग्य की भावना को उत्पन्न करके चरम सीमा तक पहुंचा दिया। बहुत कुछ कहने-सुनने पर भी जब माता-पिता विवाह करने

पर तुले रहे, तब मूलशंकर ने २२ वर्ष की अवस्था में अपने जीवन-रूपी जहाज का लंगर किनारे से खोल दिया, और जहाज को अथाह समुद्र में छोड़ दिया। वह माता-पिता के प्रेम, सुरक्षा के बन्धनों को तोड़कर उस मार्ग की खोज में चल दिये, जिस पर जाने से मनुष्य जरा-मरण के भय से मुक्त हो जाय।

घर से निकलकर जिज्ञासु युवक सुख की तलाश में घूमने लगा। निरन्तर लगभग १५ वर्षो तक वह मोक्ष का मार्ग दिखाने वाले गुरु को ढूढ़ने के लिए कभी हिमालय की गुफाओं में तो कभी बीहड़ जंगलों में, कभी मठों में तो कभी तीर्थ-स्थानों मे भटकते रहा। इन यात्राओं में ऐसा कोई शारीरिक कष्ट नहीं था, जो जिज्ञासु ने न उठाया हो। सर्दी, गर्मी, भूख, और प्यास, सभी प्रकार के कष्ट आये, परन्तु जिसके हृदय में सच्ची जिज्ञासा की आग सुलग चुकी थी, उसे मार्गभ्रष्ट न कर सके। वह नाममात्र के योगियों के पास गया, तो उन्हें केवल ढोंगी पाया, और विद्वानों के पास पहुंचा, तो उन्हें रूढ़ि की पूजा में लगा हुआ पाया। इसी ज्ञान-यात्रा में, मूलशकर पहले एक ब्रह्मचारी से दीक्षा लेकर 'शुद्ध चेतन ब्रह्मचारी' बना, और फिर नर्मदा के तट पर एक विद्वान् संन्यासी श्री पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास ग्रहण करके 'दयानन्द सरस्वती' यह यशस्वी नाम धारण किया।

संन्यास लेकर भी जिज्ञासु ने सच्चे गुरु की खोज जारी रखी। एक महन्त ने उन्हें एक बड़ी गद्दी का उत्तराधिकारी बनाना चाहा, स्वामी जी ने उसे कोरा जवाब दे दिया।

जब स्वामी दयानन्द सरस्वती सत्य की खोज में देश का भ्रमण कर रहे थे, उन्ही वर्षों में भारत में वह राजनीतिक तूफान आया,

जो सन् सत्तावन की क्रान्ति के नाम से प्रसिद्ध है। महर्षि ने अपने आत्म-चरित में उन वर्षों की कोई चर्चा नहीं की। उनके ग्रन्थों और भाषणों के सावधानतापूर्वक अनुशीलन से प्रतीत होता है कि अपने देश की पराधीनता उनके हृदय में शूल की भांति चुभ रही थी। यह मानने को जी नहीं चाहता कि देश में बेलाग घूमते हुए स्वामी जी उस महती क्रान्ति से सर्वथा उदासीन रहे हों। सम्भवत: उनके इस संबन्ध में मौन का यही कारण हो कि वह देश की बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों में क्रान्ति की घटनाओं की चर्चा करना सामयिक न समझते हों।

आखिर पन्द्रह वर्ष की खोज समाप्त हुई, और जिज्ञासु दयानन्द, शिष्य बनकर, मथुरा में दण्डी श्री विरजानन्दजी महाराज के चरणों में उपस्थित हुए। दण्डी जी पाणिनीय व्याकरण और आर्षग्रन्थों के प्रकाण्ड पण्डित थे। वह संस्कृत व्याकरण के नवीन ग्रन्थों के विरोधी थे। स्वामी दयानन्द जी का मन भी नवीन ग्रन्थों से विमुख हो चुका था। गुरु को सच्छिष्य और शिष्य को सत् गुरु मिल गया, मानो प्यासे को कुआं मिल गया। स्वामी जी ने दण्डी जी के पास लगभग अढ़ाई वर्ष तक विद्याध्ययन किया। इन वर्षों में उन्होंने गुरु-सेवा, ब्रह्मचर्य और परिश्रम द्वारा गुरु से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त किया। अध्ययन की समाप्ति पर, प्रचलित प्रथा के अनुसार, स्वामीजी गुरु-दक्षिणा के तौर पर कुछ लौंग लेकर गुरु की सेवा में उपस्थित हुए, और आशीर्वाद मांगा। इस पर दण्डी जी ने शिष्य से जो दक्षिणा मांगी, वह शिष्य के भावी जीवन का निर्माण करने वाली तो थी ही, संसार के गुरुओं के लिये अनुसरणीय भी थी। दण्डी जी ने कहा—

"बेटा, जा लिखा-पढ़ा सफल कर। देश का सुधार और उपकार कर। सत्य शास्त्रों का उपकार करके मत-मतान्तर की अविद्या को मिटा, और वैदिक धर्म, जिसका लोप हो गया है, उसे फिर फैला।"

इस स्फूर्तिदायक सन्देश को लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती गुरु के आश्रम से वैसाख, १९२० के अन्त में विदा हुए और धर्मोपदेश का कार्य आरम्भ किया। आपके धर्मोपदेश के दो पहलू थे। एक मण्डनात्मक, जिसमें स्वामी जी वेदों के धर्म का प्रतिपादन करते थे और दूसरा खण्डनात्मक, जिसमें वह भारत और भारत के बाहर सब मतमतान्तरों और मजहबों में प्रारम्भ से वर्तमान या आगन्तुक भ्रम-मूलक विचारों और कुसंस्कारों का खण्डन करते थे। उनके मूलभूत सिद्धान्त निम्नलिखित थे—

(१) ईश्वर एक और अमूर्त्त है। वह सब विद्याओं और उनसे जो पदार्थ जाने जाते हैं, उनका आदि कारण है।

(२) वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं। वे सत्य ज्ञान के आदि स्रोत हैं।

(३) सत्य को ग्रहण करने और असत्य का परित्याग करने के लिये सदा उद्यत रहना चाहिये।

(४) समाज का संगठन गुण-कर्मानुसार वर्णव्यवस्था के आधार पर होना चाहिये।

(५) व्यक्ति के जीवन की सफलता आश्रम-व्यवस्था के अंगीकार करने से ही हो सकती है।

(६) परमात्मा की दृष्टि में मनुष्यमात्र समान हैं। गुणों और कर्मों से उनमें भिन्नता आती है। वेदपर्यन्त विद्या प्राप्त करने,

परमात्मा की प्रार्थना-उपासना करने तथा अन्य मानवीय अधिकारों के उपभोग का मनुष्य मात्र को समान अधिकार है। इस कारण स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखना या किन्हीं जातियों को नीच, पतित या अछूत बतलाकर उनके मनुष्यता के अधिकार छीनना अधर्म है।

(७) बहुविवाह वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। बाल-विधवाओं का पुनर्विवाह हो जाना चाहिये। स्त्रियों को यज्ञादि शुभ कार्यों में पुरुष का समान हिस्सेदार मानना चाहिये। सती-दाह की प्रथा अवैदिक है।

(८) रूढ़िवाद और 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' सर्वथा अनार्य सिद्धान्त हैं। वेद के चार लक्षण है—श्रुति, स्मृति, सदाचार, और आत्मनः प्रिय। अन्तिम निर्णय करने के लिये बुद्धि और तर्क का सहारा लेना आवश्यक है।

(९) स्वामीजी ने मूर्ति के रूप में ईश्वर की पूजा के स्थान पर निराकार ईश्वर की उपासना, मृतकों के श्राद्ध के स्थान पर जीवित माता-पिता और गुरुजनों की सेवा और कर्मविहीन संन्यास के स्थान पर संसार का उपकार करने वाले संन्यास का विधान किया।

(१०) बालकों और बालिकाओं की शिक्षा के सम्बन्ध में उनके सिद्धान्त थे: (क) शिक्षणालयों में प्राचीन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के अनुसार व्यवस्था होनी चाहिये। (ख) बालकों तथा बालिकाओं की शिक्षा पृथक्-पृथक् हो। (ग) धर्म तथा संस्कृति की शिक्षा देने के लिये आर्य ग्रंथों का आश्रय लेना चाहिये तथा (घ) प्राचीन

वाङ्मय के साथ-साथ अर्वाचीन भाषाओं तथा विद्याओं की शिक्षा भी आवश्यक होनी चाहिये। यह स्वामी जी के मन्तव्यों के मुख्य-मुख्य अंश हैं। उनके पूरे मन्तव्य आर्यसमाज के १० नियमों में, और ५१ मन्तव्यामन्तव्यों में समाविष्ट हैं।

जब गुरु से प्रेरणा पाकर स्वामी जी कार्य क्षेत्र में अवतीर्ण हुए तो वह केवल कौपीनधारी संन्यासी के रूप में विचरते और व्याख्यान करते थे। स्वामीजी का शरीर विशाल और हृष्ट-पुष्ट था, चेहरा गौरवर्ण, तेजस्वी और सुन्दर था। उनके एक मिलने वाले ने कहा था कि उनके मुख का सौन्दर्य असाधारण रूप से आकर्षक था। वह दर्शक के मन में आतंक-भरा प्रेम उत्पन्न करता था। आपका स्वर सिंह के समान गम्भीर और रौबीला था। जब आप व्याख्यान के आरम्भ में ऊंचे स्वर से वेद मन्त्रों का उच्चारण करते थे, तो श्रोता मंत्रमुग्ध-से हो जाते थे।

मथुरा से सत्यप्रचार का सन्देश लेकर महर्षि आगरा पहुंचे और वहां आर्य-धर्म के प्रचार का सूत्रपात किया। आगरा से धौलपुर, ग्वालियर आदि नगरों में प्रचार कार्य करते हुए आप जयपुर पहुंचे। वहां पहुंचकर स्वामी जी ने मूर्त्ति-पूजा के खण्डन में व्याख्यान दिये तो कुछ पण्डितों ने वादविवाद करने का प्रयत्न किया। शास्त्रार्थ में व्याकरण की चर्चा चल गई तो स्वामीजी ने पातंजल महाभाष्य का प्रमाण देकर पण्डितों को निरुत्तर कर दिया। कुछ दिनों के पश्चात् आप अजमेर गये तो एक पादरी साहब शास्त्रार्थ के लिये उद्यत हुए। शास्त्रार्थ एक प्रकार की दिमागी कुश्ती है। उसमें जीतने के लिये बल भी चाहिये और प्रतिभा भी। स्वामी जी में शारीरिक बल और बुद्धिबल के साथ

तीव्र प्रतिभा भी थी, जिसका एक बड़ा अंग हाज़िरजवाबी था। विशाल शरीर, ब्रह्मचर्य के तेज से चमकता हुआ चेहरा, अद्भुत स्मृति और तर्क की शक्ति आदि जिन गुणों की सामने के वाद-विवाद मे जीतने के लिये आवश्यकता होती है, वे सभी स्वामी जी में थे। उनके अतिरिक्त एक निराकार ईश्वर की सत्ता पर, और वेदों की सत्यता पर उनका ऐसा अटल विश्वास था कि शास्त्रार्थों के युद्ध-क्षेत्र में वह अजेय-से हो गये।

इन प्रारम्भिक वर्षो मे स्वामी जी के सुधार-सम्बन्धी विचार पक रहे थे। इनमे पूर्णता और परिपक्वता तव आई, जब १९२३ विक्रमी के महाकुम्भ पर आप हरिद्वार गये। मध्यकाल से लेकर तबतक भारतीय धर्म की विशुद्ध गगा मे रूढ़ियों और भ्रम-मूलक विचारों का जितना कूड़ा-करकट और मैल इकट्ठा हुआ था, कुम्भ का मेला मानो उसकी प्रदर्शिनी थी। उस प्रदर्शिनी को देखकर स्वामी जी के मन में यह विचार दृढ हो गया कि जब तक धर्म के नाम पर होनेवाले अधार्मिक कार्यो का जोरदार खण्डन नही किया जायगा, तब तक भारत का कल्याण नही होगा। कुम्भ के अवसर पर, गंगा की रेती में स्वामी जी ने जो पाखण्ड-खण्डनी पताका फहराई, वह अगले १७ वर्षो में वाणी और लेख द्वारा देश के कोने-कोने में पहुंचा दी गई।

१८६३ ई० से आरम्भ करके १८७५ ई० तक स्वामी जी के कार्य का प्रचार-युग समझना चाहिये। १८७५ में बम्बई में पहले आर्यसमाज की स्थापना करके महर्षि ने संगठन-युग का सूत्रपात कर दिया। प्रचार-युग में दक्षिण के कुछ भागों को छोड़कर शेष सारे देश में कई दौरे लगाये। जहां जाते वहां एकेश्वरवाद,

वैदिक धर्म और समाज सुधार के मण्डन में व्याख्यान करते, और साथ ही सुधार का रास्ता साफ करने के लिये सभी मतों के उन विचारों को, जिन्हें वह भ्रममूलक मानते थे, कड़े शब्दों में खण्डन भी करते। इस दिशा में वह ईसाई धर्म के सुधारक मार्टिन लूथर के समान थे।

वाचिक प्रचार के साथ उन्होंने लैखिक प्रचार का कार्य भी निरन्तर जारी रखा। प्रचार के लिये जहां जाते, ग्रन्थ लिखने की सामग्री, और लेखकों को साथ ले जाते थे। सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेद-भाष्य तथा अन्य व्याकरण आदि के सब ग्रन्थ प्रायः प्रचार-यात्राओं में ही लिखे या लिखाये गये।

खण्डनात्मक प्रचार के सिलसिले में आपके कई बहुत प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुए। काशी का शास्त्रार्थ तो शंकराचार्य और मण्डन-मिश्र के शास्त्रार्थ की भान्ति प्रसिद्ध हो गया है। अन्य मतों के आचार्यों से भी अनेक शास्त्रार्थ हुए। शास्त्रार्थों में जीत-हार का निश्चय तो श्रोताओं की रुचि के अनुसार ही होता है, परन्तु इस में सन्देह नहीं कि स्वामी जी का तेजस्वी व्यक्तित्व, अद्भुत पाण्डित्य और दृढ़ विश्वास के कारण प्रत्येक शास्त्रार्थ उनके सिद्धांतों के प्रचार में सहायक ही होता गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि लगभग २० वर्षों के प्रचारमय जीवन में उनका यश और प्रभाव न केवल भारत में, अपितु भारत से बाहर भी फैल गया।

अपने सिद्धान्तों के प्रचार को स्थायी रूप देने के लिये १८७५ ई० में जनवरी मास में आपने बम्बई में प्रथम आर्यसमाज की स्थापना की। दो वर्ष बाद १८७७ में लाहौर में दूसरा आर्यसमाज

स्थापित हुआ, और उसके दस नियमों को अन्तिम रूप में स्वीकार किया गया। आर्यसमाज के संगठन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह सोलह आने प्रजातन्त्र के सिद्धांतों पर आश्रित था। प्रत्येक व्यक्ति आर्यसमाज के नियमों पर हस्ताक्षर करके, और अपनी आमदनी का शतांश चन्दे के रूप में देकर आर्यसमाज का सभासद् बन सकता है, और प्रत्येक सभासद् उन सामयिक निर्वाचनों में भाग ले सकता है, जो अधिकारियों के निर्वाचन के लिये किये जाते हैं।

१८८२ ई० में जब स्वामी जी राजस्थान की रियासतों में प्रचारार्थ भ्रमण कर रहे थे, तब आपके मन में यह विचार उठा कि अपने वेदभाष्य तथा अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन की स्थिर व्यवस्था के लिये कोई ऐसी संस्था बनाई जाये, जिसका देश-विदेश में प्रभाव हो। राजस्थान की उदयपुर, जोधपुर, शाहपुर, आदि अनेक रियासतों के शासक स्वामी जी के शिष्य बन गये। उनके साथ देश के न्यायमूर्त्ति महादेव गोविन्द रानाडे आदि अनेक प्रतिष्ठित महानुभावों को सम्मिलित करके २३ सदस्यों की परोपकारिणी सभा नाम की स्थिर संस्था बनाकर रजिस्ट्री करा दी, और उसे अपने ग्रन्थों के प्रकाशन के सब अधिकार दे दिये।

वाणी और लेख द्वारा प्रचार करने में स्वामी जी ने महात्मा बुद्ध की भांति लोक-भाषा का उपयोग किया। वह जन्म से काठियावाड़ के थे। शिक्षा के संबन्ध में विद्वानों की सदा यह रीति रही कि वे शास्त्रीय चर्चाओं में संस्कृत भाषा का प्रयोग करने में ही अपनी शोभा समझते थे। स्वामी जी ने गुजराती और संस्कृत दोनों को छोड़कर अपना लैखिक तथा वाचिक प्रचार

देश में सबसे अधिक समझी जाने वाली लोक-भाषा हिन्दी में ही किया। स्वामी जी की असाधारण सफलता का यह एक मुख्य कारण था।

स्वामीजी के सुधार-कार्य की एक यह महत्वपूर्ण विशेषता थी कि वह आदि से अन्त तक देश-भक्ति से ओतप्रोत था। स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों और भाषणों में भारतवासियों को उनके यशस्वी इतिहास की याद दिलाकर आत्म-सम्मान से भरपूर कर दिया। साथ ही उन्होंने स्थान-स्थान पर विदेशी राज्य और पराधीनता की बुराइयां बतलाकर देशवासियों को प्रमाद छोड़कर स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये सन्नद्ध हो जाने की प्रेरणा की। उन्होंने इण्डियन नैशनल कांग्रेस की स्थापना से भी कई वर्ष पूर्व 'सत्यार्थप्रकाश' में निम्नलिखित सत्य की घोषणा की थी——

"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है, अथवा मत-मतान्तर के आग्रह-रहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

स्वामीजी ने अपने ग्रन्थों में जिस चक्रवर्ती राज्य का स्वप्न लिया था, वह लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् स्वतंत्र भारतीय गण-तन्त्र के रूप में प्रादुर्भूत हो गया।

राजस्थान का दौरा करते हुए महर्षि जोधपुर पहुंचे तो वहां के शासक महाराज यशवन्तसिंह और सर कर्नल प्रतापसिंह स्वामी जी के शिष्य बन गये और प्रतिदिन उपदेश सुनने लगे। राजवंश के इस प्रकार सत्पथ पर चले जाने की आशंका से कुछ

स्वार्थी लोग बहुत झुंझला उठे। महाराज की एक मुँहलगी वेश्या थी, एक दिन जब स्वामीजी राजमहल में उपदेश देने गये तो वहां से वेश्या की डोली को निकलते देख लिया। उस दिन उपदेश में आपने राजाओं की दुर्दशा का वर्णन करते हुए कहा कि अब तो सिह भी कुत्तों का अनुसरण करने लगे हैं। वेश्याएं कुतियों के सदृश हैं, उनसे सम्बन्ध रखना कुत्तों का काम है। महाराज पर उपदेश का अच्छा असर पड़ा, परन्तु वह वेश्या, जिसका नाम मुन्नीजान था, रुष्ट हो गई। कुछ कट्टरपन्थी लोगों के साथ मिलकर उसने षड्यन्त्र बनाया, और स्वामीजी के रसोइये द्वारा दूध में घोलकर पिसा हुआ कांच पिला दिया। कांच ने शरीर पर भयानक विष का असर किया, शरीर भर में फोड़े फूट उठे, जिससे दो मास तक पीड़ित रहकर ३० अक्तूबर, १८८३ ई० को सायं-काल ६ बजे वर्तमान भारत के अग्रणी सुधारक महर्षि दयानन्द ने ईश्वर का स्मरण करते हुए ऐहिक शरीर का त्याग कर दिया। वह दीपावलि का पुण्य पर्व था। बाहर लाखों दीपों की दीप्ति जगमगा रही थी, और उस रोगीगृह में एक कर्मयोगी की आत्मिक ज्योति प्रभु की अनन्त ज्योति में विलीन हो रही थी।

निर्भय सुधारक का काम बहुत कठिन होता है। उसे दूसरों के दोषों का स्पष्ट शब्दों में प्रदर्शन करके नासमझ जनों की क्रोध रूपी आग से खेलना पड़ता है। वह आग सुधारकों को जलाती अवश्य है परन्तु जलाकर राख नहीं बनाती, कुन्दन बना देती है। नवीन भारत के अन्यतम निर्माता महर्षि दयानन्द उसी आग की चिता में पड़कर अमर पदवी को प्राप्त हो गये।

श्री गुरु नानकदेव जी

: ५ :

श्री गुरु नानकदेवजी

सिक्खधर्म के आदिगुरु श्री गुरु नानकदेवजी का जन्म कार्त्तिक कृष्ण पक्ष पूर्णिमा, संवत् १५२६ विक्रमी को पंजाब के शेखूपुरा ज़िले के अन्तर्गत, तलवण्डी ग्राम में हुआ था। उनके पिता मेहता कालूचन्द वेदी तलवण्डी के हाकिम राय बुलार के मुख्य कर्मचारी थे। वेदीजी वाणिज्य-व्यवसाय भी करते थे। ग्राम में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। नानकदेवजी की माता का नाम तृप्तादेवी था।

कहा जाता है कि गुरु नानकदेवजी का बाल्यकाल असाधारण था। जन्म के समय साधारणतया बच्चे रोते हैं, वे बिल्कुल नहीं रोये। एक वर्ष भी पूर्ण नहीं हो पाया था कि आप चलने-फिरने लगे। छोटी आयु में जब आप बच्चों के साथ खेलने जाते तब 'सत्य कर्त्तार' कहकर अभिवादन करते। अन्य बालक भी उनका अनुसरण करते। घर में जो कुछ अपने निजी उपयोग के लिए मिलता उसे बाहर जाकर भिखमंगों में बाँट देते। उनकी इन असाधारण धार्मिक प्रवृत्तियों को देखकर कोई उन्हें सिद्ध पुरुष कहता तो कोई योगी।

आठ वर्ष की आयु में नानकदेव को एक गुरु के पास विद्याध्ययन के लिए भेजा गया तो आपने कहा, "यह विद्या पढ़ने से क्या लाभ? मनुष्य को चाहिये कि वह उस विद्या को सीखे, जिसे प्राप्त करने पर कर्त्तार के दर्शन हो सकें।"

नवें वर्ष में आपको पं० बृजनाथ के पास संस्कृत सीखने के लिए भेजा गया। पंडितजी ने 'ओम्' लिखना सिखाया। शिष्य ने 'ओम्' का अर्थ जानना चाहा। गुरु ने प्रश्न का सही उत्तर देने के स्थान पर उनसे कहा कि, "तुम अभी बच्चे हो, तुम्हारी बुद्धि अपरिपक्व है—'ओम्' का अर्थ तुम्हारी समझ में नहीं आ सकता।" गुरु की ऐसी बात सुनकर ज्ञानी बालक नानकदेव बोले, "ओम् नाम ईश्वर का है।" पंडित जी किशोर बालक की ऐसी अद्-भुत प्रतिभा देखकर दंग रह गए।

ग्यारहवें वर्ष में नानकदेवजी को फारसी पढ़ने के लिए एक मौलवी साहब के पास भेजा गया। मौलवी साहब बच्चे को अक्षरों का अभ्यास करायें तो बच्चा उसमें से भी ईश्वर-भक्ति का आनन्द ले। जब मौलवी ने पढ़ाया 'अलिफ' तो शिष्य ने कहा, "अलिफ से अल्लाह, सबका सिरजनहार।" इस प्रकार ज्यों-ज्यों आप बड़े होते गए त्यों-त्यों आपके ज्ञान में वृद्धि होती गई। सुप्त ज्ञान उद्‌बुद्ध हो उठा। उस समय के प्रचलित रीति-रिवाजों से आपका दिल हटता गया। यहां तक कि जब उन्हें यज्ञोपवीत पहनाया जाने लगा तो उन्होंने यह कहकर पहनने से साफ इन्कार कर दिया कि यह तागा तो टूटने वाला है, कच्चा है। मुझे इसकी आवश्यकता नहीं। मुझे तो ऐसा सूत्र चाहिये जो न कभी मैला हो और न टूटे। ऐसा सूत्र तो 'शान्ति' का सूत्र ही है, मुझे उसे प्राप्त करना है।

पुत्र की ऐसी अद्‌भुत प्रवृत्तियों को देखकर पिता को सन्देह होने लगा कि सम्भवतः उसका दिमाग फिर गया है। उन्होंने एक प्रवीण वैद्य को बुलाया। जब वैद्य ने नाड़ी देखना आरम्भ किया तो

भक्त बालक ने अपना हाथ खींचते हुए कहा, "भले आदमी, तू मेरा रोग नाड़ी में ढूंढ़ रहा है, पर वह नाड़ी में नहीं, मेरे दिल में है। मेरा दिल मेरे मालिक में अटका हुआ है—तू उसकी क्या दवा कर सकता है?"

जब वैद्य द्वारा कोई इलाज न हो सका तो पिता ने लड़के को व्यापार में डालना चाहा। उन्होंने नानकदेवजी को पचास रुपये दिये और कहा कि जाओ, कोई लाभप्रद सौदा कर लाओ। नानकदेवजी कुछ दूर गये तो देखा कि साधुओं की एक मंडली तीन दिन से प्रतीक्षा कर रही है कि कोई दानी आये तो उन्हें भोजन प्राप्त हो। नानकदेवजी से साधुओं का यह कष्ट देखा न गया और उन्होंने बाजार से ५०) रु० की खाद्य-सामग्री लेकर साधुओं के सम्मुख रख दी। तत्पश्चात् घर लौट आये। खाली हाथ घर लौटने पर पिता का क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। किन्तु नानकदेव ने उन्हें शान्ति से समझाते हुए कहा कि आपने मुझे लाभप्रद सौदा करने को कहा था, सो मैं करके लाया हूं। भूखे साधुओं को अन्न देने से अधिक लाभप्रद और सच्चा सौदा और क्या हो सकता है!

जब तलवन्डी में नानकदेवजी के सांसारिक मार्ग पर जाने की कोई सूरत न दिखाई दी तो उनके माता-पिता ने उन्हें अपने दामाद दीवान जयराम के पास सुल्तानपुर (कपूरथला) भेज दिया। दीवान जयराम ने उन्हें सरकारी भण्डार में नौकर करा दिया। वहां नानकदेवजी को कुछ कमाई होने लगी किन्तु रंग-ढंग पूर्ववत् ही रहा। जो कुछ अर्जन करते, साधुओं सन्तों के अर्पण कर देते। सन् १४८८ में १८ वर्ष की आयु में आपका विवाह हो

गया। दो पुत्र-रत्न, श्रीचंद और लक्ष्मीचन्द, क्रमशः सन् १४९२ और सन् १४९७ में हुए।

लगभग सत्तरह वर्षों तक सरकारी नौकरी करने के पश्चात् नानकदेव जी के अन्तर से पुनः ईश्वर-भक्ति की ध्वनि प्रसारित होने लगी। आपने नवाब से नौकरी छोड़ने की बात कही। हिसाब-किताब करने के पश्चात् इनके आठ सौ रुपये लेने निकले जिन्हें इन्होंने गरीब मनुष्यों को वितरित कर दिया। इस तरह वह सांसारिक मोह का परित्याग कर, उस ज्ञान के प्रसार में लग गए जो उन्हें अन्तरदृष्टि से प्राप्त हुआ था।

गुरु नानकदेवजी का सबसे पहला मन्तव्य था—ईश्वर-भक्ति। ओंकार-कर्त्तार में श्रद्धा और भक्ति को आप सबसे ऊँचा धर्म मानते थे।

आपका दूसरा मन्तव्य था, मनुष्यमात्र को समान दृष्टि से देखना; सबसे समान व्यवहार करना। आप हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद नहीं मानते थे। जो सच्चा और सदाचारी मनुष्य हो, वही आपको प्यारा था।

गुरु नानकदेवजी की प्रचार-शैली में दो बड़ी विशेषताए थीं—एक तो आप सर्वसाधारण की भाषा में उपदेश करते थे सर्वसाधारण के लिए उस समय संस्कृत जैसी कठिन थी, फारसी या साहित्यिक उर्दू भी वैसी ही कठिन थी। गुरु महाराज पंजाब की लोकभाषा में उपदेश देते थे। वह शिक्षित-अशिक्षित, अमीर और गरीब सभी की समझ में आ जाता था।

दूसरी विशेषता यह थी कि आप अपने उपदेशों को लोक-भाषा की कविता में प्रकट करते थे। यह सर्वविदित ही है कि

सरल कविता सर्वसाधारण जनता पर अधिक असर उत्पन्न करती है। वह हृदय की सतह तक पहुंच जाती है। गुरु महाराज का धर्मोपदेश तीव्र वेग से पंजाब के कोने-कोने में प्रसारित हो गया।

गुरु नानकजी अपने भक्ति-धर्म का संदेश सुनाने के लिए पर्यटन करने लगे। उनके दो साथी थे। भाई बाला तब भी उनका सहयोगी था, जब वह सर्वथा विरक्त नहीं हुए थे। गांव का मीरासी मर्दाना गुरु जी के बनाये हुए गीत गा-गाकर जनता को उनका संदेश सुनाता था। धर्म-प्रचार के कार्य में वह गुरु जी के साथ रहता था।

धर्म-प्रचार के साथ-साथ गुरुजी के शिष्यों की संख्या भी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। साधारण जनता में उनका व्यक्तित्व आदर्श समझा जाने लगा। धार्मिक गुरुओं के चारों ओर जैसे अद्भुत कथानक एकत्र हो जाया करते हैं, गुरु महाराज के जीवन के संबंध में भी वैसे ही अनेक चमत्कारपूर्ण कथानक हैं। एक कथानक उनमें से यह है—जब आप एमिनाबाद नाम के शहर में पहुंचे तो वहां के मलिक भागो की ओर से एक वृहद् ब्रह्मभोज हो रहा था। कुछ भक्तों ने गुरुजी से निवेदन किया कि आप भागो के मेहमान बनें और उसके ब्रह्मभोज में सम्मिलित हों। गुरु महाराज ने उनके परामर्श को न मानकर एक गरीब व्यक्ति लालो के घर में रूखा-सूखा भोजन करना पसंद किया। जब मलिक भागो ने इस बात की शिकायत की तो नानकदेवजी जी ने अपने एक हाथ में लालो के घर की रूखी-सूखी रोटी का टुकड़ा लिया और दूसरे में भागो के घर की मिठाई। तत्पश्चात् दोनों को निचोड़ा। लोगों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि

लालो की मेहनत की कमाई के टुकड़े से दूध की बूंदें बरस रही हैं तो भागो की मिठाई में से रक्त-धारा बह निकली है। बाबा ने यह दृश्य दिखाकर लोगों को समझाया कि जहां मेहनत और ईमानदारी की कमाई में बरकत होती है, वहां प्रमाद और अत्याचार की कमाई का अन्त सर्वनाश में होता है। हुआ भी ऐसा ही, कुछ ही दिनों के पश्चात् बादशाह बाबर ने एमिनाबाद पर आक्रमण करके उसे ध्वस्त कर दिया।

आप दौरे के प्रसंग में दिल्ली पहुंचे। उन दिनों वहां सिकंदर लोदी राज्य करता था। वह बहुत ही कट्टर और धर्मान्ध शासक था। हिन्दुओं पर उसके भीषण और अमानुषिक अत्याचार इतिहास-प्रसिद्ध हैं ही। जब बादशाह को यह विदित हुआ कि हिन्दू धर्म का कोई आचार्य प्रचार करने आया है, तो उसने गुरु महाराज और उनके साथियों को कारागृह में डलवा दिया। इसके आगे का कथानक इस प्रकार है—बादशाह की आज्ञा से गुरु महाराज को कारागृह में बंद कर दिया गया और तीन मन अनाज पीसने को दिया गया। मर्दाना भी जेल में साथ ही था। वह तीन मन अनाज पीसने के नाम से बहुत घबराया। उसे आश्वासन देते हुए गुरु नानकदेवजी ने सब कैदियों से कहा कि चक्कियां छोड़कर सो जाओ। जेल के अधिकारियों ने अगले दिन प्रातःकाल क्या देखा कि सबकी सब चक्कियां अपने आप चलने लगीं। जेल के अधिकारियों ने आश्चर्यचकित होकर यह समाचार बादशाह को सुनाया। बादशाह ने जब जेल में जाकर स्वयं नेत्रों से सारा दृश्य देखा तो वह गुरु महाराज के सम्मुख घुटने टेककर बैठ गया और उनसे क्षमा-याचना करने लगा। गुरु महाराज ने

उसे क्षमा करते हुए आदेश दिया कि सब कैदियों को छोड़ दिया जाय। बादशाह ने सब हिन्दू-मुसलमान कैदियों को मुक्त करते हुए बहुत-सी धनराशि गुरु महाराज को भेंट की, जिसे लेने से उन्होंने इन्कार कर दिया।

कुछ वर्षों के पश्चात् दिल्ली की गद्दी पर इब्राहीम लोदी आसीन हुआ। उसके शासन-काल में भ्रमण करते हुए नानकदेव जी जब करनाल पहुँचे तो कुछ धर्मान्ध मौलवियों ने उसे भड़का दिया। बादशाह के हुक्म से बाबा नानकदेवजी को दूसरी बार दिल्ली की जेल में बन्द कर दिया गया। अभी उन्हें जेल में पहुंचे थोड़ा ही समय हुआ था कि बाबर ने इब्राहीम लोदी पर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया और स्वयं दिल्ली का अधिपति बन गया। बाबर केवल महान् योद्धा ही नहीं था, वह महापुरुष भी था। वह सहृदय, उदार और गुणग्राही, था उसे जब मालूम हुआ कि एक पहुंचा हुआ फकीर जेल में बन्द है तो उसने उन्हें छोड़ने की आज्ञा दे दी।

दिल्ली से कराची होते हुए नानकदेवजी बलोचिस्तान गये। और वहां से हाजियों का वेष बनाकर 'मक्का' शरीफ पहुंच गये। उस समय की भी एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। आप मक्का पहुंचकर जब रात को सोये तो आपके पांव काबे की ओर थे जो मुसलमानों की दृष्टि में कुफ्र था। जब प्रातःकाल एक मुसलमान ने देखा तो क्रोध में आकर गुरुजी को ठोकर मारते हुए कहा—"अरे बेवकूफ, तू कौन है जो इस तरह खुदा के घर की ओर पैर पसारकर सो रहा है?" बाबाजी ने जागकर बड़ी शान्ति से उत्तर दिया, "बाबा, मैं थककर सो गया था, यह ध्यान नहीं रहा

कि पैर किधर करूँ ? जिस दिशा में खुदा का घर न हो वह बता दो, तो मैं उधर पैर कर लूं।" कहते हैं कि उस मुसलमान ने चारों ओर देखा तो उसे प्रतीत हुआ कि जिधर नानकदेवजी पैर करते हैं, उधर ही काबा दृष्टिगोचर होता है। इस पर यह समझकर कि यह कोई ऊंचे दर्जे का फकीर है, मुसलमान चुप हो गया।

मक्का से आप मदीना गये। वहां के इमाम ने आपसे मिलकर कहा कि यह तो हम मानते हैं कि आप सिद्ध-पुरुष हैं, परन्तु यदि आप चाहते हैं कि सारा संसार आपका शिष्य बन जाय तो आप हज़रत मुहम्मद और उसके चार मित्रों पर इमान लायें। गुरुजी ने इसका उत्तर दिया, "अग्नि, जल, मिट्टी और वायु ये चारों हमारे मित्र हैं और हमारी आत्मा हमारा पैग़म्बर है। हमें ईश्वर तक पहुँचने के लिये और किसी की ज़रूरत नहीं।"

मदीने से गुरुजी बगदाद गये और वहां के सुल्तान से भेंट की। सुल्तान पर आपके उपदेशों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने प्रजा पर अत्याचार करना छोड़कर अपनी धन-दौलत गरीबों में बांट दी। उसने एक ऐसा चोग़ा, जिस पर कुरान की आयतें लिखी हुई थीं, गुरुजी को भेंट किया, जिसे आप अपने साथ अपने देश में ले आये। यह चोग़ा अब तक डेरा बाबा नानक के गुरुद्वारे में सुरक्षित रखा हुआ है। उसका नाम 'चोला साहब' है।

बगदाद से चलकर आप हिरात, बुखारा आदि होते हुए, काबुल के रास्ते से भारत में वापिस आ गये। भारत के सीमा प्रदेश में हसन अब्दाल नाम का एक स्थान था। वहां 'पंजा साहब' के नाम से एक गुरुद्वारा बना हुआ है। उसके संबंध में एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। कहते हैं कि वहां यार अली नाम का

एक कन्धारी फकीर रहता था। उसके डेरे के समीप ठण्डे जल का एक स्रोत था। यार अली वहां से किसी को पानी नहीं लेने देता था। बाबाजी ने उसे कहला भेजा कि पानी खुदा का है, उसपर रुकावट नहीं डालनी चाहिये। फकीर ने बाबाजी की बात नहीं मानी तो क्या हुआ कि वह स्रोत अपनी जगह से हटकर पहाड़ की तलहटी में, जहां बाबाजी ठहरे हुए थे चलने लगा। इस पर यार अली को बहुत क्रोध आया और उसने पहाड़ पर से एक बड़ी शिला लुढ़का दी कि बाबाजी उसके नीचे आकर मर जायें। जब शिला पास आई तो बाबा जी ने उसे अपने हाथ के पंजे से रोक दिया। इसी कारण वह स्थान 'पंजा साहब' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लम्बी यात्राओं से देश में वापिस आकर आपने कर्तारपुर नाम के नगर में अपना निवास-स्थान बनाया। जीवन के अन्तिम वर्ष आपने वहीं बिताये। आपके सामने जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि अपने हजारों शिष्यों के पथ-प्रदर्शन के लिये उत्तराधिकारी किसे बनाया जाय तो आप पर सम्बन्धियों की ओर से यह ज़ोर डाला गया कि दोनों पुत्रों में से जो अधिक योग्य हो उसे उत्तराधिकारी घोषित कर दिया जाय। गुरु जी ने जब जांचकर देखा तो उन्हें उन दोनों में से कोई भी गुरु बनने के योग्य दिखाई नहीं दिया। तब उन्होंने प्रिय शिष्य अंगद के उत्तराधिकारी होने की घोषणा कर दी। गुरु महाराज के इस चुनाव ने सिक्ख लोगों में जनतन्त्र की भावना के बीज बो दिये। उन्होंने धर्माचार्य की गद्दी को पैत्रिक सम्पत्ति न समझकर गुणों की देन समझा। १० आश्विन, सम्वत् १५९६ को पहर रात रहे गुरु

नानक देव जी ने ऐहिक शरीर के चोले का त्याग कर दिया।

"जब से भारत पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुए, तब से पंजाब संग्राम का मैदान ही बना रहा। आक्रान्ताओं के भारत में प्रवेश का वही द्वार था। शायद ही कोई दस साल ऐसे बीते हों, जिनमें विरोधी सेनाओं के संघर्ष के कारण उसकी बर्बादी न होती हो। परन्तु फिर भी पंजाब के निवासी जीवित रहे। इसके दो मुख्य कारण थे, पांच नदियों की कृपा से अन्न की कमी नहीं होने पाती थी और स्वास्थ्यदायक जलवायु के कारण शरीरों में चोटों के सहने की शक्ति थी"। "इसलिये जीवित तो रहे, परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से पहुत पीछे पड़ गये। उन्हें एक ऐसे पथ-दर्शन की आवश्यकता थी जो सरल भापा में, और आमफहम ढंग से ईश्वर-भक्ति और मनुष्यमात्र से प्रेम आदि ऊंचे सिद्धांतों को जनता के हृदयों तक पहुंचा सके। गुरु नानक देव जी का अपना जीवन इतना स्वच्छ और सरल था, और उनके उपदेश ऐसे सुगम और सच्चे थे, कि पंजाब के सैनिक स्वभाव के निवासियों की अंतरात्मा में घर कर गये।"

उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्द

: ६ :
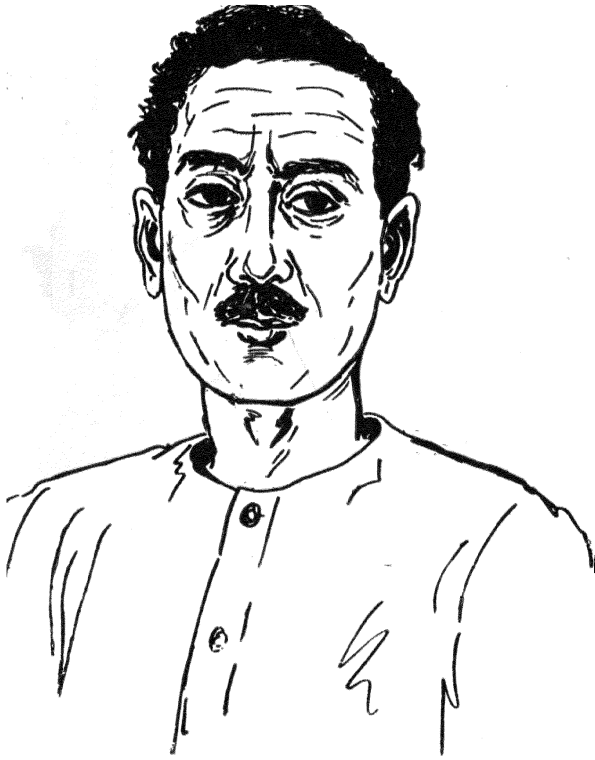
उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्द

'इस चरितावली के लेखक को प्रेमचन्द जी से पहली बार मिलने का सौभाग्य गुरुकुल कांगड़ी में प्राप्त हुआ था। उससे पूर्व आपके उपन्यास पढ़े थे, और पत्रों में चर्चा देखी थी। उस वर्ष गुरुकुल के वार्षिकोत्सव के अवसर पर प्रेमचन्दजी को आर्यभाषा-सम्मेलन का सभापतित्व करने के लिए निमंत्रित किया गया। जिस प्रातःकाल रेल से आपके हरिद्वार पहुंचने की आशा थी, कुछ स्वयं-सेवकों के साथ गुरुकुल के दो अध्यापक बहुत से हार और फूल ले-कर स्टेशन पर भेजे गये। गाड़ी आने के लगभग १५ मिनट बाद उनमें से एक स्वयंसेवक ने साइकल द्वारा आकर गुरुकुल कार्यालय में समाचार दिया कि श्री प्रेमचन्दजी इस ट्रेन से नहीं आये। शायद दूसरी से आयें, हम उस गाड़ी को देखकर आयेंगे।

इस समाचार से थोड़ी-सी निराशा हुई। हम लोग स्वागत सत्कार के लिए आगे जा रहे थे। सभापतिजी के न आने का समा-चार सुनकर पीछे लौट आये, और दूसरे काम में लग गये। थाड़ी देर में देखता क्या हूं कि उत्सव के यात्रियों की भीड़ में एक खद्दर-धारी अधेड़ सज्जन आगे-आगे, और सिर पर एक छोटा-सा बिस्तर रखे हुए एक कुली पीछे-पीछे चले आ रहे हैं। जब इस सज्जन को ध्यान से देखा तो सूरत तस्वीरों में पहचानी हुई मालूम हुई। पास आने पर जब उनकी टोपी और मूंछों पर दृष्टि पड़ी, तो पहचान एकदम स्पष्ट हो गई कि वह तो आज के

सम्मेलन के सभापति प्रेमचन्द जी हैं। मैंने आगे बढ़कर कहा—"मेरा नाम इन्द्र है। आप तो बाबू प्रेमचन्दजी है न?" इस प्रश्न के उत्तर मे बाबू प्रेमचन्द जी बच्चों की तरह खिलखिलाकर हँस पड़े, और बोले "आपने शायद मेरी बड़ी-बड़ी मूछो से मुझे पहचान लिया।" मैंने पूछा—"स्टेशन से खबर आई थी कि आप गाडी से नही आये। अब आप कहा से प्रादुर्भूत हो गये?" आपने उत्तर दिया—"स्टेशन पर कुछ लोग हार और फूल लिये इधर-उधर भागे फिर रहे थे। मैंने समझा किसी नेता को लेने आये है। इस कारण मै भीड़ मे शामिल होकर तीसरे दर्जे के दरवाजे से निकल आया।"

इस प्रथम दर्शन का कुछ विस्तृत वर्णन देने का प्रयोजन यह है कि सक्षेप मे उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्दजी के चरित्र का हस्तामलक की तरह दर्शन हो जाए। इस एक घटना से प्रेमचन्दजी की सादगी, उनकी राष्ट्रीय वेष-भूषा, निरभिमानता, और उद्योगशीलता आदि अनेक गुण प्रकट हो जाते है। हरिद्वार से गुरुकुल लगभग तीन मील दूर है। सभापति बनने के लिए आकर, तीन मील तक पैदल चलकर गुरुकुल पहुंचना न किसी नेता के लिए सम्भव था, और न आरामपसन्द व्यक्ति के लिए। यह प्रेमचन्दजी जैसे मनुष्यरत्न के लिए ही सम्भव था। आपने जीवन भर मुसीबतों से युद्ध किया, आर्थिक दृष्टि से भी निश्चिन्तता प्राप्त न की और फिर अपनी स्वभावसिद्ध सरलता और बालोचित हँसी से शक्ति लाभ करके हिन्दी साहित्य को ऐसे बहुमूल्य उपहार दिये कि हिन्दी-जगत् उनका सदा ऋणी रहेगा।"

प्रेमचन्दजी ने उत्तर प्रदेश के बनारस ज़िले के अन्तर्गत

लमही नाम के ग्राम में सन् १८८० मे जन्म लिया। आपके पिता की आर्थिक स्थिति बहुत साधारण थी। वह पोस्ट आफिस में काम करते थे। उनका अधिक से अधिक मासिक वेतन चालीस रुपये तक पहुँचा। जिस मकान में वे लोग रहते थे उसका किराया एक रुपया आठ आना मासिक था। ऐसे वातावरण मे से यशस्वी उपन्यासकार की उत्पत्ति कीचड़ से कमल की उत्पत्ति के समान ही थी। आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए यदि प्रेमचन्द जी विद्याध्ययन कर सके, तो यह उनके दृढ संकल्प और अनथक परिश्रम का ही फल था।

जब उनकी पढ़ाई शुरु हुई तो घर पर दरिद्रता छाई हुई थी। जेठ की गर्मी और पौष की सर्दी के निवारण के लिए कभी-कभी बारह आने का जूता भी दुर्लभ हो जाता था। जब कुछ पढ़ गये तो पांच-पांच रुपये की ट्यूशन करके किताबों का खर्च निकाला करते थे। विशेष बात यह है कि पांच रुपये की ट्यूशन के पीछे कभी-कभी तीन-तीन मील चलना पड़ता था। एक बार आपको तीन दिन भूखा रहना पड़ा। तब आपने अपनी गणित की किताब बेचकर क्षुधा शान्त की। गणित से प्रेमचन्द जी का शुरू से ही विरोध-सा था। आपके जीवन से यह सिद्ध होता है कि गणित और साहित्य एक कोठरी में नहीं रह सकते। गणित आप की सफलता में तब तक बाधक बना रहा जब तक शिक्षा-विभाग ने उसे इण्टर कक्षा में वैकल्पिक विषय नहीं कर दिया।

आप कायस्थ थे। उन दिनों कायस्थों की आजीविका का आधार फारसी-उर्दू ही था। प्रेमचन्दजी ने भी प्रारम्भ में फारसी उर्दू की शिक्षा प्राप्त की, और जब सतत परिश्रम और असा-

धारण लगन से बी.ए. पास कर लिया, तब आप उर्दू में लिखा करते थे। उस समय आपकी आयु ३४ वर्ष की थी। "प्रत्येक मनुष्य अपनी परिस्थितियों और अनुभवों से प्रभावित होता है। प्रेमचन्दजी के प्रारम्भिक जीवन का उनके साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। "वह ऊंचे महलों और अटारियों के चित्रकार नहीं थे। उनकी लेखनीरूपी तूलिका ने जो चित्र खींचे हैं, उनमें गरीबों और उनकी झोंपड़ियों की, मजदूरों और उनके कष्टों की प्रधानता है। वह स्वयं जिन कठिनाइयों में से होकर गुज़रे थे, उनसे सहानुभूति रखना स्वाभाविक था। इसीलिए वह शोषित वर्ग के प्रतिनिधि कलाकार थे"।

"प्रेमचन्दजी का बचपन का नाम धनपतराय था। आपकी पहली उर्दू की कृतियां इसी नाम से प्रकाशित हुई थीं। फिर शायद आप को यह नाम अटपटा-सा लगा क्यों कि साहित्य-सेवा से धनपति बनने के दिन अभी नहीं आये थे। आप स्वभाव ही से अर्थ के उपासक नहीं थे। अर्थ की आवश्यकता अनुभव करते हुए भी उसकी उपासना नहीं कर सकते थे। आपका हृदय मनुष्य-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम और विश्व-प्रेम आदि अनेक रूपों में प्रेम का पुजारी था, इस कारण जीवन के मध्य पहुंचकर आपने प्रेमचन्द यह यथार्थ नाम ग्रहण कर लिया, और इसी नाम से लिखने लगे।"

आपके पारिवारिक जीवन में एक ऐसी गांठ पड़ गई, जिसने उसे भी कुछ असाधारण अनुभवों का साधन बना दिया। पहले विवाह के सम्बन्ध में आपने लिखा है—

"कई रोज़ का अर्सा हो गया था। ऊंट-गाड़ी से आना पड़ा।

जब हम ऊंट-गाड़ी से उतरे तो मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़कर चलना शुरू किया। मैं इसके लिये तैयार नहीं था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी, उम्र में वह मुझ से बहुत ज़्यादा थी। जब मैंने उसकी सूरत देखी तो मेरा खून सूख गया।"

उनकी स्त्री विकटरूप थी। ऐसे बेमेल सम्बन्ध का परिणाम अच्छा नहीं निकला। बेचारी पहली पत्नी को सदा मायके में ही रहना पड़ा और अनेक मित्रों के आग्रह से प्रेमचन्द जी ने दूसरा विवाह कर लिया। दूसरे विवाह का सम्बन्धियों की ओर से विरोध हुआ, क्योंकि नई पत्नी शिवरानीदेवीजी बाल-विधवा थी। वह ग्यारह वर्ष की आयु में ही विधवा हो गयी थीं। यह नया सम्बन्ध प्रेमचन्दजी के लिए सुखदायक हुआ। साहित्यिक प्रेमचन्दजी में जिस व्यावहारिकता की कमी थी, शिवरानीदेवी जी में उसका पुष्कल अस्तित्व था। जैसा प्राकृतिक नियम के अनुसार होना चाहिये, दोनों भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के परन्तु समझदार साझीदारों का यह गृहस्थ एक दूसरे के गुणों से अनुप्राणित होता हुआ सफल और सुखदायक हुआ। आपकी माता का देहान्त तभी हो गया था, जब आप सात वर्ष के थे और पिता ने दूसरी शादी कर ली थी।

पारिवारिक संसार का यह अनुभव भी प्रेमचन्द जी को प्राप्त हो गया। इन सब विविध अनुभवों ने उन्हें प्रभूत मात्रा में साहित्य-निर्माण की सामग्री प्रदान की, इसमें सन्देह नहीं।

बचपन से ही प्रेमचन्द जी को कहानियां और उपन्यास पढ़ने का शौक था। विशेष रूप से आप उर्दू के सामयिक लेखकों के उपन्यासों को पढ़ने के शौकीन थे। अंग्रेजी पढ़ लेने पर रेनाल्ड और

स्काट के ग्रन्थ भी पढ़ डाले। उन्नीस वर्ष की अवस्था में आपका पहला उपन्यास "कृष्णा' नाम से निकला। उसके दो वर्ष बाद "वरदान' प्रकाशित हुआ। १९०५ में आपने 'प्रेमा' नाम का उपन्यास लिखा जिसकी कई आलोचकों ने प्रशंसा की। १९१४ तक आप उर्दू में लिखते रहे। उसके बाद हिन्दी में लिखना शुरू किया। इन उपन्यासों और कहानियों ने आपको पाठकों से परिचित तो करा दिया परन्तु विशेष ख्याति प्राप्त नही हुई। आपकी ओर हिन्दी जगत् का ध्यान विशेष रूप से तब आकृष्ट हुआ, जब आपका 'सेवासदन' नाम का उपन्यास प्रकाशित हुआ। उन दिनों आप गोरखपुर के स्कूल में अध्यापक का काम करते थे। आज पढ़ें तो 'सेवासदन' में कोई विशेष बात दिखाई नहीं देती परन्तु जिस समय 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ, उस समय उसमें एक अनूठापन था। "गंगा में से नहरें तो कई शिल्पियों ने निकाली हैं परन्तु उसके साथ नाम भगीरथ का ही जुड़ा हुआ है। हिन्दी के उपन्यास, लीक पर पड़ी हुई बैलगाड़ी की तरह चरचर करते हुए धीरे-धीरे चले जा रहे थे, 'सेवासदन' ने उन्हें एक ऐसा रास्ता दिखाया जो सामयिक भी था और मौलिक भी। यही कारण है कि प्रेमचन्दजी आधुनिक हिन्दी उपन्यासों के जन्मदाता कहे जाते हैं।"

हिन्दी के उपन्यासों का इतिहास कई युगों में से होकर गुज़रा है। बहुत पुराने उपन्यासों में से इन्शाहअल्लाह की 'रानी केतकी की कहानी', लल्लूलालजी की 'सिहासन बत्तीसी' और 'प्रेमसागर' आदि कथायें प्रसिद्ध हैं। इनका कथानक अलौकिक है परन्तु पृष्ठभूमि प्रायः धार्मिक है। यह हिन्दी उपन्यास का पहला

युग था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अर्वाचीन हिन्दी के जन्मदाता कहे जाते हैं। उन्होंने न केवल भाषा की नई परिपाटी को जन्म दिया, साहित्य में नये भावों का भी प्रवेश किया। आपने 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्र प्रभा' नाम का उपन्यास लिखकर अन्य हिन्दी लेखकों का मार्ग-प्रदर्शन किया। भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी के बहुत-से प्रसिद्ध लेखक हुए जिन्होंने भारतेन्दु-युग का निर्माण किया। उनमें से किशोरीलाल गोस्वामी, देवीप्रसाद और बाबू गोपालराम गहमरी आदि सुलेखकों के नाम हिन्दी उपन्यास-साहित्य के इतिहास में विशेष स्थान रखते हैं। उन्नीसवीं सदी के अन्त में अय्यारी और तिलस्मी उपन्यासों का प्रकाशन जारी हुआ। यह सम्भवतः उर्दू साहित्य के प्रभाव का फल था। देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' आदि उपन्यासों ने इस शैली को ख्याति की चरम सीमा तक पहुंचा दिया। यह हिन्दी उपन्यास का तीसरा युग था। इसी समय हिन्दी में बंगला के उत्तमोत्तम उपन्यासों का अनुवाद आरम्भ हुआ। बंकिमचन्द्र और रमेशचन्द्र दत्त आदि प्रख्यात लेखकों के प्रायः सभी उपन्यासों के अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित हो गये। उनके पीछे-पीछे बंगला के जासूसी उपन्यासों के भी अनुवाद आने लगे। वह अनुवाद युग था।

इस युग-विभाजन का यह अभिप्राय नहीं कि अनुवाद युग में कोई मौलिक उपन्यास छपे ही नहीं। छपे; परन्तु वे अपवाद थे। एक तो हिन्दी में मौलिक उपन्यास निकलते ही कम थे और जो निकलते भी थे, पढ़ने वालों को वे उतने पसन्द नहीं आते थे,

जितने 'आनन्द मठ' 'कपाल कुण्डला' और 'राजपूत' 'जीवन-सन्ध्या' के अनुवाद। यह परिस्थिति थी जिसमें 'सेवासदन' का प्रकाशन हुआ। सेवासदन का विषय सामाजिक था, भाषा सरल और आमफहम थी। एक समस्या को उठाकर उसका सुन्दर हल पेश किया गया था। इन सब गुणों के साथ विशेष बात यह थी कि कथानक मनोरंजक था। हिन्दी के पाठकों को वह चीज़ सामयिक और नई मालूम हुई, जिससे हिन्दी जगत् का ध्यान प्रेमचन्द जी की ओर खिच गया। उसके पश्चात् प्रेमचन्द जी की प्रतिभा और लेखनी में मानो असाधारण शक्ति आ गई। क्रमशः 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'निर्मला', 'कायाकल्प' और 'गोदान' हिन्दी संसार के सम्मुख आये। इनमें से प्रत्येक कुछ नवीनता लिये हुए था। उस नवीनता का कारण यह था कि प्रेमचन्द जी का हृदय अत्यन्त कोमल था, वह बाहर के प्रभावों से बहुत अधिक और शीघ्र प्रभावित होता था। भारत के इतिहास में १९१९ से लेकर १९४७ तक का समय क्रान्तिमय था। देश का केवल राजनैतिक कलेवर ही नहीं, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक ढांचा भी मानो शान पर चढ़ाकर चमकाया जा रहा था। ऐसे क्रान्तिमय काल में यह स्वाभाविक ही था कि प्रेमचन्दजी का कोमल हृदय देश में फैली हुई प्रत्येक नई भावना से प्रभावित होता। हिन्दू-मुस्लिम एकता, अहिंसात्मक संग्राम, खद्दर, किसानों और मजदूरों का उत्थान आदि के जो-जो आन्दोलन देश में उठते रहे, प्रेमचन्द जी के उपन्यासों पर उनका प्रतिबिम्ब पड़ता रहा। इस प्रकार प्रेमचन्द जी अपने समय के ऊंचे दर्जे के और पूरे प्रतिनिधि लेखक थे। उन्होंने हिन्दी के उपन्यासकारों को रचना की

केवल नई दिशा ही नहीं दिखाई, कई वर्षों तक आगे-आगे चलकर दूसरे पड़ाव तक भी पहुंचा दिया।"

"यह प्रसिद्ध है कि सरस्वती और लक्ष्मी का प्रायः एकत्र निवास नहीं होता। प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध में यह लोकोक्ति सत्य सिद्ध हुई है। आपके लिखे हुए उपन्यासों और कहानियों को जनता ने बहुत आस्वाद से पढ़ा, सामयिक पत्रों में उनकी भरपूर प्रशंसा हुई। समालोचकों ने प्रेमचन्द जी को उपन्यास-सम्राट् की उपाधि दी और यह कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं है कि प्रेमचन्द जी के अतिरिक्त अन्य लोगों ने उनकी लिखी किताबें बेच-बेचकर महल भी खड़े कर लिये। परन्तु प्रेमचन्द जी अन्त तक लगभग वही रहे जो साहित्य-जीवन के प्रारंभ में थे।" "सन्तोष उनका धन रहा, सादगी उनकी सजावट रही और निश्छल हंसी उनकी शोभा रही। उन्होंने पुस्तकें प्रकाशित कीं, प्रेस चलाया और कुछ समय तक फिल्म के लिए कहानी भी तैयार की; परन्तु रहे अन्त तक प्रेमचन्द ही, फिर लौटकर धनपतराय न बन सके।" इस दृष्टि से प्रेमचन्द जी आदर्श कलाकार थे।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर

: ७ :
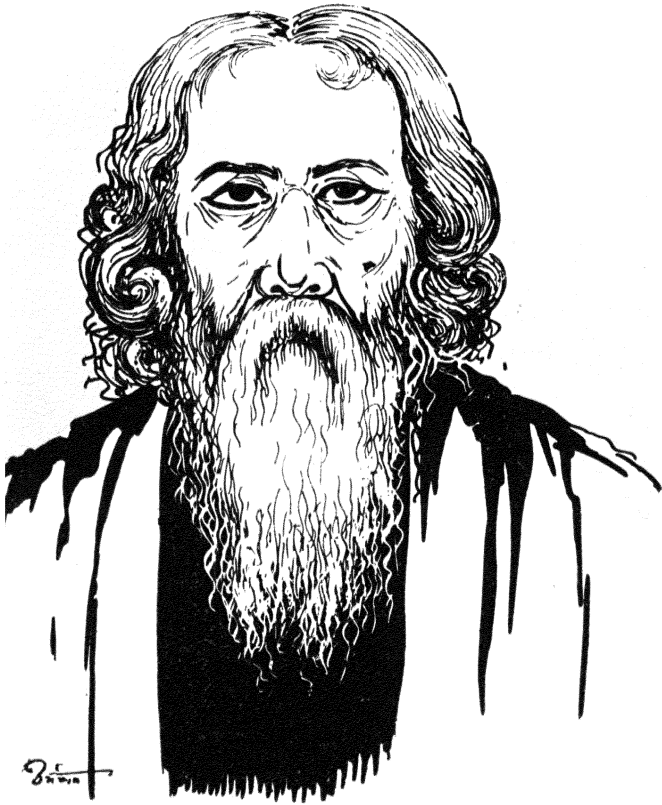
कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"जिन व्यक्तियों को जीवन-पर्वत के यशरूपी शिखर पर पहुँचने में सफलता प्राप्त होती है, उनकी दो श्रेणियां हैं। पहली श्रेणी में वे व्यक्ति हैं जो पर्वत की तलहटी में जन्म लेते हैं। वे समाज के निम्न स्तर में उत्पन्न होकर अपनी बुद्धि और मेहनत के सहारे पर्वत पर चढ़ना आरम्भ करते हैं, और यदि परिस्थितियों ने, जिनका दूसरा नाम भाग्य है, साथ दिया तो जीवन के मध्य भाग में चोटी पर पहुंच जाते हैं।"

"दूसरी श्रेणी उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों की है, जो पर्वत की ऊँची चोटी के समीप ही किसी समतल भूमि पर जन्म लेकर बड़ी सुविधा से शिखर की ओर चल देते हैं। यदि उनमें प्रतिभा भी हो और परिश्रम भी, तो उन्हें चोटी पर पहुंचने में देर नहीं लगती। ऐसे ही व्यक्तियों के विषय में गीता में भगवान् ने कहा है--

"अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्"

अर्थात्, ऐसे व्यक्ति जो एक जन्म में लक्ष्य के समीप तक तो पहुंच जाते हैं परन्तु किसी कारण लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते, वे दूसरे जन्म में श्रेष्ठ कुल में जन्म लेते हैं। कवीन्द्र डा रवीन्द्रनाथ इसी श्रेणी के सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से थे उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर सभी प्रकार से प्रसिद्ध थे। जिस घराने में उन्होंने जन्म लिया, उस की गिनती बंगाल में धन और

मान की दृष्टि से बहुत ऊँची थी। वह स्वयं उच्च कोटि के विद्वान् और धर्मात्मा थे। देशवासियों ने इन्हीं गुणों के कारण उन्हें महर्षि पद से विभूषित किया था। महर्षि देवेन्द्रनाथ ब्रह्मसमाज के प्रख्यात नेता थे।

महर्षि देवेन्द्रनाथ बहुत ही साधु-वृत्ति के महात्मा थे। घर में बहुत कम रहते थे। प्राय: एकान्त पर्वतीय स्थानों में रहकर स्वाध्याय, लेखन और साधना में समय व्यतीत करते थे। उनकी पत्नी प्राय: रोगी रहती थी। घर का सब कामकाज रवीन्द्रनाथ के बड़े भाइयों के हाथ में रहा। डाक्टर रवीन्द्रनाथ का जन्म ७ मई, १८६१ ई० को हुआ। प्रारंभ से ही उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था महर्षि के तीसरे पुत्र हेमेन्द्रनाथ के निरीक्षण मे होती रही। जो अध्यापक लोग पढ़ाने आते थे, उनके काम की देखभाल हेमेन्द्रनाथ ही करते थे। कविवर ने जो आत्मकथा लिखी है, उसमें उन्होंने बतलाया है कि पाठ्य पुस्तकों तथा स्कूल की पढ़ाई में उन्हें बिलकुल रुचि नही थी। यों तो वह बहुत छोटी आयु मे ही सोचने और लिखने लगे थे, परन्तु परीक्षाओं के ढर्रे में पड़ना उन्हें पसन्द नही था। प्रतिभा उन्हें यशस्वी पिता से प्राप्त हुई थी और शिक्षा का अवसर ऐश्वर्यशाली कुल के कारण मिल गया. शिक्षा का यह क्रम १७ वर्ष की आयु तक जारी रहा। उन वर्षो में रवीन्द्रनाथ ने मुख्य रूप से बंगला और अंग्रेजी भाषा में कुशलता प्राप्त कर ली। अन्य विषयों की ओर उनकी विशेष रुचि नही थी। सरकारी यूनिवर्सिटियों के सांचे में ढालने से कोई लाभ न देखकर परिवार के बुजुर्गो ने उन्हें शिक्षा पूरी करने के लिए १८७८ में इंगलैंड भेजा। वहां दो वर्ष तक निवास करके उन्होंने

अपनी अंग्रेजी की योग्यता बढ़ाने के साथ-साथ विशाल संसार का अनुभव भी प्राप्त किया। कविवर के मानसिक क्षेत्र की व्यापकता में इन दोनों ही घटनाओं से सहायता मिली है। सीमाबद्ध शिक्षणालयों के शिकंजे में न पड़ने के कारण वह संकुचित मनोवृत्ति से बचे रहे और सर्वथा स्वतन्त्र रूप से भारत से बाहर जाकर विश्व को देखने का अवसर मिलने से उनके लेखों, कविताओं, में और रचनात्मक कार्यों में भी विश्व-बन्धुत्व की भावना को मुख्यता मिल गइ।

रवीन्द्रनाथ के जिस काव्य ने कवियों की श्रेणी में उनकी गणना करा दी, वह 'सान्ध्य-संगीत' था। जब वह प्रकाशित हुआ, तब आपकी आयु २१ वर्ष की थी। बंगाल के प्रसिद्ध लेखक रमेशचन्द्र दत्त की लड़की की शादी में बंगाल के बहुत से प्रसिद्ध महानुभाव एकत्र हुए थे। वहां बंगभाषा के उपन्यास-सम्राट् वंकिमचन्द्र चटर्जी भी आये थे। जब रवीन्द्रनाथ को बंकिम बाबू ने वहां देखा तो उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा, "यह साहित्य के अन्तरिक्ष का उदित होता हुआ सितारा है।" कविवर ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि उन्हें उन प्रारम्भिक दिनों में साहित्यिक रचना करने का विशेष प्रोत्साहन भाई ज्योतीन्द्रनाथ और उनकी पत्नी से मिला। वे दोनों न केवल युवक कवि की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देते थे, सहानुभूतिपूर्ण आलोचना द्वारा उसकी कविताओं को सुसंस्कृत भी करते रहते थे।

'सान्ध्य-संगीत' के दो वर्ष बाद 'प्रभात-संगीत' प्रकाशित हुआ। उसका बंगाल में अपूर्व स्वागत हुआ। उसके पश्चात् तो पत्र-पत्रिकाओं में आपकी कविताओं, नाटकों और निबन्धों का

तांता सा लग गया। गंगोत्री से निकलती हुई जलधारा की तरह आपकी लेखनी से रचनाओं की धारा बहने लगी।

रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में प्रारंभ से ही हम विचारों की तीन प्रवृत्तियां पाते हैं। वह धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों के सर्वथा विरोधी थे। इस दृष्टि से वह पक्के सुधारक थे। उनकी सभी रचनाओं में सुधार का समर्थन भासित होता है। उनके सुधार-प्रेम की एक विशेषता यह थी कि उच्छृंखलता के वह कट्टर शत्रु थे। 'संयम ही आनन्द का मूल है' यह उनका दृढ़ सिद्धान्त था, जो उनके उपन्यासों तथा नाटकों में स्पष्ट रूप से ध्वनित होता है।

उनकी विचारधारा विशुद्ध राष्ट्रीय थी। वह यद्यपि अपने समय की भारतीय राजनीति से व्यावहारिक रूप में अलग रहे परन्तु यह निर्विवाद बात है कि देश में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए जो संग्राम चल रहा था, उसके साथ उनकी पूर्ण सहानुभूति थी। जब कभी वह सामयिक राजनीति के सम्पर्क में आते तब उनकी राष्ट्रीय-भावना सूर्य की तरह चमक उठती।

इस दूसरी मानसिक प्रवृत्ति के साथ-साथ प्रारंभ से ही रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में हम एक विशेष विचारधारा का मिश्रण पाते हैं। उस विचारधारा का संक्षिप्त वर्णन कालिदास के निम्नलिखित दो पदों में किया जा सकता है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्,
न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।

अर्थात्, कोई वस्तु केवल इसलिए अच्छी नहीं कि पुरानी है, और न इसीलिए बुरी है कि वह नई है। इस प्रकार कोई वस्तु

अपने देश की होने मात्र से अच्छी नहीं हो जाती, अच्छी वस्तु सभी जगह अच्छी है। अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्व-बन्धुत्व का यही मूल आधार है"। "कवीन्द्र हिन्दू-मुस्लिम एकता के परम पक्षपाती थे, परन्तु उनकी एकता का आधार राजनीतिक नहीं था। उनके बनाये 'जन-गण-मन-अधिनायक' वाले राष्ट्रीय गान में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि सबकी जिस एकता की चर्चा है, वह स्वराज्य-प्राप्ति के सौदे का अंग नहीं है, अपितु मानव-बन्धुत्व का एक अंग है"। "कवीन्द्र अपने समय के राष्ट्रीय आन्दोलन के अत्यन्त निकट रहते हुए और महात्मा गान्धी जी के आत्मीय सखा होते हुए भी कभी गान्धी जी के सत्याग्रह आन्दोलन के अंग न बन सके, उसका यही कारण था कि आपकी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता का, और एक समुदाय का दूसरे समुदाय से प्रेम, मनुष्यमात्र के परस्पर बन्धुत्व का अंग है।"

'ये विशेषताएँ थीं, जिनके बीज युवक रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में पहले से उपलब्ध होते थे। वे बीज समय पर अंकुरित हुए और प्रौढ़ावस्था में लहलहाते पेड़ के रूप में परिणत होकर संसार को आश्चर्यचकित करने लगे। 'डा० रवीन्द्रनाथ की मांग अपने देश से भी अधिक दूसरे सभ्य देशों में होने लगी।'

'प्रभात-गीत' के कुछ समय पश्चात् कवीन्द्र का 'संन्यासी' अथवा 'प्रकृति-परिशोध' नाम का नाटक प्रकाशित हुआ। 'उस नाटक का उद्देश्य झूठे वैराग्य की निस्सारता बताना था'। एक व्यक्ति जो युवावस्था में संसार से मुक्त होने की अभिलाषा से संन्यासी बनकर पतन की ओर जाने लगा था, एक स्त्री का

नैसर्गिक प्रेम उसे गृहस्थ बनाकर पतन से बचा देता है। इस नाटक ने पाठकों को यह अनुभव करा दिया कि रवीन्द्रनाथ केवल लेखक नहीं है, वह एक ऐसा विचारक है जिसके पास संसार को देने के लिए कोई सन्देश भी है।

१९०१ में 'नैवेद्य' नाम का कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ। उस संग्रह की कविताओं में विशेष बात यह थी कि भारत के प्राचीन आदर्शों की प्रशंसा और उनकी तुलना में पश्चिम के भौतिकवाद की निन्दा की गई थी कवि को भारत का शान्ति-प्रेम जितना अपनी ओर खींचता था, पश्चिम का क्रूरताभरा स्वार्थ उतना ही उद्विग्न करता था। सन् १९०१ का वर्ष रवीन्द्रनाथ के जीवन में एक स्मरणीय वर्ष है। क्योंकि बोलपुर ब्रह्मचर्याश्रम की बुनियाद इसमें पड़ी थी। महर्षि देवेन्द्रनाथ ने बीरभूम ज़िले के बोलपुर गांव में भूमि का एक टुकड़ा खरीदा था, जिसमें वह अपने एकान्तवास के लिए आश्रम बनाना चाहते थे। रवीन्द्रनाथ उन दिनों भारत के प्राचीन आदर्शों के अनुसार शिक्षा देने वाली संस्था स्थापित करने के संबंध में विचार कर रहे थे। पिता की अनुमति लेकर उन्होंने १९०१ में उस आश्रम की स्थापना कर दी। यही आश्रम कुछ समय पश्चात् विकसित होकर 'विश्वभारती' के रूप में परिणत हो गया। १९०५ में एक ऐसी घटना हुई जिसने कविवर के भावी जीवन पर अत्यन्त प्रभाव डाला। उनके पिता का देहान्त हो गया। १९०९-१९१० में उनकी 'राजा' और 'तिलांजलि' नाम की दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं और १९११ में 'डाकघर' नाम का नाटक जनता के हाथ में आया। इन तीनों रचनाओं में हम कवि की प्रतिभा के दायरे को

अपने देश की सीमाओं से आगे बढ़कर विश्व में प्रवेश करता पाते हैं। अब उनका परोक्षदर्शी मन विश्व की समस्याओं को सुलझाने में लग रहा था।

१९११ में बंगीय साहित्य-परिषद् की ओर से कविवर की पचासवीं वर्षगांठ बड़ी धूमधाम से मनाई गई। उस उत्सव के अवसर पर बंगला के बहुत से ऐसे लेखक भी सम्मिलित हुए जो उससे पूर्व उनके काव्यों में दोष निकाला करते थे।

१९१३ में कविवर रवीन्द्रनाथ को 'नोबल प्राइज़' दिया गया। यह पुरस्कार उस व्यक्ति को दिया जाता है, जो उस समय किसी दृष्टि से सबसे अधिक गुणवान् हो। उस वर्ष कविवर के 'गीतांजलि' नाम के कवितासंग्रह को संसार का सर्वोत्कृष्ट काव्य माना गया। कविवर को यह पारितोषिक मिलने का संक्षिप्त इतिहास यह है कि इंगलैण्ड के प्रसिद्ध चित्र-कार मिस्टर रौथन स्टीन ने जब रवीन्द्रनाथ की कुछ कहानियों और कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद पढ़े, तो उसे यह अनुभव हुआ कि उनका रचयिता कोई महाकवि होना चाहिये। उन्हीं दिनों कविवर इंगलैंड गये और अपनी बंगला कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद वहां के प्रसिद्ध विद्वानों को दिखाये। सभी ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इन्डिया सोसाइटी ने उन ग्रन्थों को सुन्दर रूप में प्रकाशित कर के यूरोप में उनका प्रचार किया। जिन मित्रों ने पश्चिम के विद्वानों तक गीतांजलि को पहुंचा कर 'नोबल प्राइज़' के दिये जाने में सहायता दी, उनमें से श्रीयुत सी० एफ० एण्ड्रयूज का नाम मुख्य है। 'नोबल-प्राइज़' के रूप में कवि को स्वीडिश एकेडमी से जो

प्रभूत धनराशि प्राप्त हुई, वह उन्होंने अपनी प्रिय संस्था शान्ति-निकेतन को प्रदान कर दी।"

'नोबल-प्राइज़' मिलने का भारतवासियों के हृदयों पर बहुत व्यापक असर हुआ। "एक भारतीय कवि के पश्चिम द्वारा सम्मानित होने पर उनके दिल उछल पड़े। भक्तों का एक जत्था स्पेशल ट्रेन द्वारा कलकत्ते से शान्ति-निकेतन पहुंचा और 'श्रद्धांजलि भेंट' करने के लिए कवि की सेवा में उपस्थित हुआ। उन्हें कवि ने जिन शब्दों से लज्जित किया वे सुनने में कुछ कठोर होते हुए भी वस्तुतः सत्य थे। आपने कहा, "आप लोगों ने मेरे ग्रन्थ तो पहले भी पढ़े होंगे, सम्भव है कुछ ने न भी पढ़े हों, आप सब मिलकर आज जो मुझे बधाई देने आये हैं, उसका यह कारण प्रतीत नहीं होता कि आप मेरे ग्रन्थों का आदर करते हैं, प्रत्युत् यह कि पश्चिम ने उनका आदर किया है। इस कारण आपने जो प्रशंसा का प्याला मुझे दिया है मै उसे होंठों तक तो ले जाऊँगा परन्तु पी नहीं सकूँगा।" इस उपालम्भ में जो थोड़ी-सी कड़वाहट है, उसमें एक गहरा सत्य छिपा हुआ है"। "उन दिनों हम लोगों की यही मनोवृत्ति थी कि यदि हमारी मिट्टी पर भी विलायत का लेबल लग जाता था तो हम उसे सोना मान लेते थे और जिस सोने पर वह लेबल न लगा हो, उसे मिट्टी से अधिक सम्मान नहीं देते थे।"

यों तो नोबल-प्राइज़ मिलने से पहले भी कविवर को यूरोप से व्याख्यान देने के निमन्त्रण आते रहते थे, पर उसके पश्चात् तो मानो बाढ़-सी आ गई। उन्हें अनेक सोसाइटियों और विश्व-विद्यालयों की ओर से निमन्त्रण आने लगे। अमेरिका में आपने

जो व्याख्यान दिए उन्हें 'साधना' नाम से प्रसिद्ध पुस्तक-प्रकाशक मैक्मिलन एण्ड कम्पनी ने प्रकाशित किया। इंग्लैंड में और यूरोप के कई अन्य देशों में भी आपने भारत का सन्देश सुनाया।

ज्यों-ज्यों कविवर पश्चिम के सम्पर्क में आते गये त्यों-त्यों वहां की बढ़ती हुई ऐय्याशी और घातक प्रवृत्तियों को देखकर उनके मन में ग्लानि-सी उत्पन्न होती गई। उन्हें अनुभव होने लगा कि यूरोप के चमकते हुए पर्दे के पीछे सर्वनाश की सामग्री तैयार हो रही है। इस भावना को उन्होंने अपनी 'दी ट्रम्पैट' शीर्षक कविता में प्रकाशित भी किया। उस समय यूरोप का पहला युद्ध आरम्भ नहीं हुआ था। अपनी कविता में यूरोप के सम्बन्ध में कवि ने जो आशंका प्रगट की थी, वह एक प्रकार से भविष्यवाणी ही सिद्ध हुई। उस के थोड़े ही समय के पश्चात् यूरोप का पहला महायुद्ध आरम्भ हो गया। जिन लोगों ने कवि की नई कविताएँ पढ़ी थीं उन लोगों को विश्वास हो गया कि रवीन्द्र-नाथ में सच्चे कवि का यह गुण विद्यमान है कि वह समय की दीवारों को तोड़कर भूत, वर्तमान और भविष्य को देख सके।

१९१५ में जब महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका से अपने 'फौनिक्स आश्रम' के छात्रों को भारतवर्ष में भेजा तब पहले वे छात्र कुछ महीनों तक गुरुकुल कांगड़ी में रहे और फिर कुछ सप्ताहों तक शान्ति-निकेतन में। दोनों महापुरुषों की प्रथम भेंट उसी अवसर पर हुई। गांधीजी ने कवि को गुरु धारण कर लिया और 'गुरुदेव' कहकर सम्बोधित करने लगे, और कवि ने गांधी जी को 'महात्मा' की पदवी से विभूषित

किया।"

इस समय कवि को अनेक विश्वविद्यालयों से 'डाक्टरेट' की उपाधि प्राप्त हो चुकी थी। वह जिन विश्वविद्यालयों में भाषण देने के लिए जाते थे, वहां से उन्हें अनेक प्रकार की आदर-सूचक भेंटें प्राप्त होती रहती थी। कभी कभी इस नियम के अपवाद भी हो जाते थे। "आप संसार को भारत का सन्देश सुनाते हुए प्रायः पश्चिम के हिंसावाद की निन्दा किया करते थे। हिंसा-वाद के पुजारी कभी-कभी इससे नाराज भी हो जाते थे। उन दिनों जापान हिंसावाद के भयानक पागलपन में फंसा हुआ था। रूस पर विजय प्राप्त हो जाने से उसका मानसिक संतुलन बिलकुल बिगड़ गया था। कवि के जो व्याख्यान टोकियो में तथा अन्य नगरों में हुए, उनमें कहीं-कहीं शक्तिवाद के समर्थकों ने वावेला किया। "कई बेढंगे प्रश्न उठाये गये, जिन में से एक यह भी था कि यदि भारत का सन्देश ही सत्य है तो तेतीस करोड़ व्यक्तियों का वह देश छोटे-से इंगलैंड के अधीन क्यों है। एक आक्षेपकर्ता ने यहां तक कहा कि व्याख्याता महोदय को अपना संदेश जन्म-भूमि में जाकर सुनाना चाहिये, हमें ऐसे निर्बलता से भरे हुए संदेश की आवश्यकता नहीं है।"

"डा० रवीन्द्रनाथ की सहानुभूति सदा देश के स्वाधीनता-आन्दोलन के साथ रही। दो एक बार आप बंग-विच्छेद के दिनों में आन्दोलन के सम्पर्क में भी आये परन्तु, अपनी साहित्यिक और दार्शनिक मनोवृत्ति के कारण कभी उसमें विलीन नहीं हुए, सदा कमलपत्र पर जल के समान ही रहे।" "महात्मा गांधीजी उन्हें राष्ट्र का पहरेदार कहा करते थे। जब कभी उनका महात्माजी के

राजनैतिक कार्यक्रम से मतभेद होता था, तब वह स्पष्ट शब्दों में सार्वजनिक रूप से उसे प्रकट कर देते थे। यों सामान्य रूप से वह राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ रहते थे। पंजाब के मार्शल-लॉ के दिनों में देशभक्तों पर अंग्रेजी सरकार के अत्याचार बहुत बढ़ गये। तब आपने वह 'सर' की उपाधि सरकार को वापिस कर दी, जो उन्हें कई वर्ष पूर्व सरकार से प्राप्त हुई थी। १९३२ में रैम्से मेक्डौनल्ड के साम्प्रदायिक फैसले के विरोध में महात्मा गांधी ने जेल में आमरण अनशन किया था, उससे कविवर इतने विचलित हुए थे कि उन्होंने न केवल रैम्से मैक्डोनल्ड को बहुत कड़ा तार दिया, वरन् स्वयं पूना पहुंचकर महात्मा जी की परिचर्या में भाग लेने लगे और जब पारस्परिक समझौता हो जाने पर महात्माजी ने उपवास खोलने का निश्चय किया तब कवीन्द्र ने अपने कण्ठ से कविता द्वारा आशा का सन्देश सुनाकर उन्हें आल्हादित किया था।

अंग्रेजों के राज्यकाल में शायद किसी अन्य भारतवासी को संसार के अन्य देशों में ऐसा शाही सम्मान प्राप्त नहीं हुआ, जैसा कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ को। अमेरिका, इग्लैंड, फ्रांस, इटली, जर्मनी, नारवे, बाल्कनदेश, ग्रीस, चीन, जापान, मिश्र, ईरान, ईराक, मलाया, सीलोन, जावा, बाली और कैनाडा आदि देशों में कवि निमन्त्रण पाकर गये और अपना सन्देश सुनाया। सब जगह की जनता ने आपका हार्दिक स्वागत किया, अनेक देशों में वहां के प्रधान शासकों ने आपका राजोचित सम्मान किया।

१९३१ में भारत लौटने पर देश भर में बड़े उत्साह और

समारोह से रवीन्द्र-जयन्ती मनाई गई। आपके सम्मान में कई ग्रन्थ प्रकाशित किये गये, और आपके दीर्घ जीवन के लिए प्रार्थनाएँ की गई। भारत के बनारस, हैदराबाद और ढाका आदि के विश्वविद्यालयों ने आपको 'डाक्टरेट' की उपाधियों से विभूषित किया और सम्मान किया। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय तो एक कदम आगे बढ़ गया और शान्ति-निकेतन में ही अपने प्रतिनिधि को भेजकर 'डाक्टर आफ लिटरेचर' की उपाधि कवि-वर को समर्पित कर दी।

१९४० के सितम्बर में कविवर का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया। लगभग एक वर्ष तक रोगी रहकर १९४१ के अगस्त मास की सातवी तारीख को भारत की जगमगाती ज्योति, कवीन्द्र रवीन्द्र ने भौतिक शरीर को त्याग कर परलोक को प्रस्थान किया। आप चले गये, परन्तु आपका उज्ज्वल साहित्य आज भी आपकी स्मृति को अमर बनाये हुए है।

डाक्टर शान्तिस्वरूप भटनागर

: ८ :

डाक्टर शान्तिस्वरूप भटनागर

इस शताब्दी में, वैज्ञानिक जगत् में जिन भारतवासियों ने अपने देश का सिर ऊंचा किया है, उनमें डा० सर शान्तिस्वरूप भटनागर का नाम विशेष रूप से स्मरणीय रहेगा। डा० भटनागर के वैज्ञानिक अनुसन्धानों की यह विशेषता थी कि उनकी प्रवृत्ति क्रियात्मक और उपयोगिताप्रधान थी। उनके प्रायः सभी अन्वेषण उद्योग के सहायक हुए। भारत के प्रायः सभी प्रदेशों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। बंगाल कल्पना के लिए, मद्रास प्रतिभा के लिए और पंजाब कर्मण्यता के लिए प्रसिद्ध है। यह नैसर्गिक ही था कि बंगाल ने जड़-चेतन की एकता सिद्ध करने वाले डा० वसु को, मद्रास ने दर्जनों आविष्कारों के कर्ता डा० रमन् को और पंजाब ने उद्योग तथा शिक्षा के सहायक आविष्कारों के उद्भावक डा० भटनागर को जन्म दिया।

डा० सर शान्तिस्वरूप भटनागर का जन्म पंजाब के भेड़ा कस्बे में हुआ था। आपके पिता ला० परमेश्वरीसहाय स्कूल में मास्टर थे। जब परमेश्वरीसहाय जी की मृत्यु हुई, उस समय शान्तिस्वरूप जी की अवस्था केवल आठ मास की थी। यदि शान्तिस्वरूप जी के नाना मुन्शी प्यारेलाल जी बच्चे की रक्षा तथा शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लेते तो बच्चे की माता के लिए उसका पालन-पोषण एक समस्या हो जाती।

स्कूल में बालक शान्तिस्वरूप की बहुत ही होशियार

लड़कों में गिनती थी। वह अध्यापकों से ऐसे-ऐसे प्रश्न करता था कि उनके लिए उत्तर देना कठिन हो जाता था। विज्ञान की ओर शान्तिस्वरूप का बचपन से ही झुकाव था। वह कबाड़ियों के यहां से कांच और धातुओं की छोटी-छोटी चीजें खरीदकर अपने कमरे में सांइस के परीक्षण करता रहता था।

इसी विधि से भानुमती का कुनबा जोड़कर भावी, विज्ञानाचार्य ने स्कूल के अपने कमरे में एक स्वनिर्मित टैलीफोन लगाकर अपने हैडमास्टर लाला रघुनाथसहाय जी को आश्चर्यान्वित कर दिया था। १९११ ई० में, १७ वर्ष की आयु में शान्तिस्वरूपजी ने पंजाब यूनिवर्सिटी से प्रथम श्रेणी में मैट्रिक परीक्षा पास की।

कालेज में प्रवेश होने पर आपका पंजाब के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री प्रोफेसर रुचिराम साहनी से परिचय हुआ। साहनी महोदय में यह विशेष गुण था कि वह नवयुवकों में से होनहार छात्रों को चुन लिया करते थे और उन्हें विकास का अवसर देने का भरपूर प्रयत्न करते थे। शान्तिस्वरूप जी का सम्पर्क होने पर उन्होंने यह पहचान लिया कि यह नवयुवक किसी दिन प्रसिद्ध विद्वान् बनेगा। कालेज की शिक्षा के दिनों में शान्तिस्वरूप जी पर प्रोफेसर साहनी का संरक्षा का हाथ सदा बना रहा। वह स्वयं भी पढ़ाई में असाधारण परिश्रम करते थे। अच्छा मार्ग-प्रदर्शन और एकाग्रता से परिश्रम, दोनों का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि शान्तिस्वरूप जी अपने दर्जे में बहुत आगे रहते थे। कालेज की प्रायः सभी परीक्षाएँ उन्होंने प्रथम श्रेणी में पास कीं। एम. एस-सी. की परीक्षा आपने 'दयालसिंह कालेज' से पास की। विज्ञान में आपकी अद्भुत प्रतिभा से प्रभावित होकर दयाल-

सिंह कालेज के ट्रस्टियों ने निश्चय किया कि आपको विलायत जाकर विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रवृत्ति दी जाय। १९१९ में आप लन्दन जाकर वहां की यूनिवर्सिटी के 'सर विलियम रेम्जे इन्स्टीट्यूट' में अनुसन्धान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रविष्ट हो गए। वहां के प्रोफेसर डोनन आपकी वैज्ञानिक प्रतिभा से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने प्रिवी कौंसिल के वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अन्वेषण विभाग की ओर से शान्ति-स्वरूप जी को ३०० रुपये मासिक की छात्रवृत्ति दिलवा दी। १९२१ में आपको लन्दन विश्वविद्यालय की ओर से डी.एस-सी की उपाधि प्राप्त हुई।

अपने देश में लौटने पर पहले आप बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में रसायन के उपाध्याय नियुक्त हुए और फिर १९२४ में आपको पंजाब यूनिवर्सिटी ने प्रान्त की रसायन-शालाओं में अन्वेषण कार्य का संचालन करने के लिए आमन्त्रित किया। बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में डाक्टर भटनागर को पांच सौ रुपये मासिक वेतन मिलता था, पंजाब में उनकी नियुक्ति बारह सौ पचास रुपये मासिक पर हुई। लाहौर में आने पर लोगों ने आपको एक मजे-दार बात याद दिलाई कि एफ. ए. की रसायन की परीक्षा में एक बार आप अनुत्तीर्ण हो गये थे। कारण यह कि उससे पहले आपका शरीर अस्वस्थ रहा था। डाक्टर शान्तिस्वरूप का दृष्टान्त उन होशियार छात्रों के लिए आशा का सुन्दर सन्देश था जो कभी विशेष कारणों से किसी एक परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जायें। पंजाब में डाक्टर भटनागर ने लगभग दस वर्षों तक रसायन-विभाग की अध्यक्षता की। इन वर्षों में आपने जो नये-

नये अन्वेषण किये, उनसे देश के शिल्प और उद्योग विभाग को बहुत सहायता मिली। सर गंगाराम, राजा दयाकृष्ण कौल, राजा हरिकृष्ण कौल, सर श्रीराम और सेठ घनश्यामदास बिड़ला आदि उद्योगपति आपसे निरन्तर परामर्श करते रहते थे। लोहे तथा कृषि-सम्बन्धी उद्योग में आपने कई ऐसे नये-नये सुझाव दिये, जिनसे उत्पादन में पर्याप्त उन्नति हुई। आपके अन्वेषणों से तेल के उद्योग में भी बहुत सहायता मिली। फौलाद और पैट्रोलियम के विदेशी निर्माताओं की एक कम्पनी ने आपकी वैज्ञानिक सहायता से प्रसन्न होकर डेढ़ लाख रुपये की थैली भेंट की जिसे अपने पास न रखकर डा० शान्तिस्वरूप ने पंजाब विश्वविद्यालय को दान कर दिया। इस राशि के सूद से विश्वविद्यालय में पेट्रोलियम संबंधी अन्वेषण के लिए एक स्वतंत्र विभाग स्थापित किया गया और उसमें काम करनेवाले छात्रों को मासिक छात्रवृत्तियां देने की व्यवस्था हुई। लन्दन की उसी कम्पनी ने दो वर्ष बाद डा० शान्तिस्वरूप को परामर्श के लिए निमन्त्रित किया और उपयोगी परामर्श के पारितोषिक रूप में ढाई लाख रुपये की राशि भेंट की। डा० भटनागर ने वह राशि भी अनुसन्धान-कार्य के लिए पंजाब विश्वविद्यालय को दे दी। इस कम्पनी ने अपने वार्षिक लाभ में से डा० भटनागर के लिए कुछ प्रतिशत रायल्टी भी ठहरा दी थी। आपने उसका भी आधा भाग यूनिवर्सिटी को दे दिया। बिड़ला बन्धुओं ने परामर्श के उपलक्ष में डा० भटनागर को इक्कीस हजार रुपये की जो भेंट दी थी, वह भी आपने विश्वविद्यालय को दे दी। दानशीलता में डा० भटनागर ने वस्तुतः वैज्ञानिकों के सामने एक आदर्श कायम

कर दिया। इन बड़े-बड़े दानों के अतिरिक्त योग्य तथा असहाय विद्यार्थियों को आपसे जो मौन आर्थिक सहायता मिलती थी, उसकी मात्रा तो आपके सिवाय किसी को भी मालूम नही थी। जानकार लोगों का विचार है कि आपके आर्थिक साहाय्य से शिक्षा पाने वाले छात्रों की संख्या सैकड़ों में है।

देश और विदेश में डा० शान्तिस्वरूप भटनागर की ख्याति इतनी विस्तृत हो गई कि अव उनका पंजाय प्रदेश में सीमित रहना असम्भव हो गया। १९४० में भारत सरकार ने आपको 'वोर्ड आफ इन्डस्ट्रियल एण्ड साइंटिफिक रिसर्च' का डायरेक्टर नियुक्त किया। यूरोप के दूसरे महायुद्ध के कारण विदेशों से रासायनिक तथा उद्योग-संबंधी अन्य वस्तुओं का आयात लगभग बन्द हो गया था। इस कमी को पूरा करने के लिए आवश्यक था कि भारत के उद्योगपतियों को उन सब वस्तुओं के उत्पन्न करने में सहायता दी जाय। इस इन्स्टीट्यूट की स्थापना का यही उद्देश्य था। डा० शान्तिस्वरूप भटनागर इसके डायरेक्टर नियुक्त किये गये। केन्द्र मे आकर डा० भटनागर की उपयोगिता और भी अधिक वढ़ गई। आपको देश की औद्योगिक उन्नति करने का जो स्वर्णिम अवसर मिला आपने उसका पूरा लाभ उठाया। आपके अन्वेषणों और परामर्श से देश के शिल्प और उद्योग को उन कठिनाइयों के हल करने में बहुत मदद मिली, जो विज्ञान में पिछड़े एक देश के सामने आया करती है।

१९४० के पश्चात् डा० भटनागर की ख्याति देश और विदेश के वैज्ञानिकों और औद्योगिक क्षेत्रों में निरन्तर बढ़ती गई। भारत का शायद ही कोई ऐसा विश्वविद्यालय हो, जिसने आपको

'आनरेरी' उपाधि द्वारा अथवा विशेष व्याख्यानों के लिए निमन्त्रित करके सम्मानित न किया हो। 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' के जुबली अधिवेशन में आप अध्यक्ष बनाये गये। विदेश की अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं ने आपको अपना फैलो निर्वाचित किया। विदेश के वैज्ञानिकों का आपके सम्बन्ध में जो मत था,उसका निदर्शन लन्दन की सुविख्यात कैमिकल सोसाइटी के अध्यक्ष प्रोफेसर एफ० जी० डोनन के उस निजी पत्र से मिलता है, जो उन्होंने डा० भटनागर को लिखा था—"मैं आपको भारत का श्रेष्ठ वैज्ञानिक समझता हूं। सर जेम्स इर्विन की भी यही राय है। मेरी राय में और आप स्वयं भी इसे जानते होंगे कि आपके कार्य केवल सिद्धान्तों ही तक सीमित नहीं हैं। आप उन्हें व्यावहारिक रूप देने और कार्य-रूप में परिणत करने में भी विशेष दक्ष हैं। आपने अपने सहका-रियों की सहायता से अनुसन्धान-कार्य के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण अन्वेषण-संस्था का निर्माण किया है। इसका इतना अच्छा संगठन हुआ है और यह आपकी देख-रेख में इतना अच्छा काम कर रही है कि उसकी तुलना संसार की किसी भी उत्कृष्ट अन्वेषण-संस्था से की जा सकती है।"

डा० भटनागर की देख-रेख में अन्वेषण-संस्था ने ऐसा सन्तोषजनक कार्य किया कि १९४१ के बजट में सरकार ने संस्था के लिए १० लाख रुपयों की राशि स्वीकृत की।

इन सब सफलताओं से सन्तुष्ट होकर सरकार ने आपको 'सर' की उपाधि से विभूषित किया।

कांग्रेस ने ब्रिटिशकाल में एक राष्ट्रीय योजना-समिति (नेशनल प्लानिंग कमेटी) बनाई थी। डा० भटनागर उसके

प्रमुख सदस्य थे।

राष्ट्रीय सरकार ने विश्वविद्यालयों की आर्थिक आवश्यकताओं को परखने और उनके शिक्षास्तर की देखभाल के लिए १९५३ में 'एक यूनिवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन' की स्थापना की तो उसके अध्यक्ष डा० शान्तिस्वरूप भटनागर बनाये गये। कुछ समय बाद उस कमीशन को स्थिरता प्रदान करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने संसद् में एक बिल पेश करने का निश्चय किया तब भी यह समझा जा रहा था कि उसके अध्यक्ष डा० शान्तिस्वरूप भटनागर होंगे। परन्तु विधाता को कुछ और ही मंजूर था। वह बिल अभी प्रारम्भिक दशा में ही था कि अपनी वैज्ञानिक योग्यता से मातृभूमि के मस्तकको ऊंचा करने वाला यह नर-रत्न १ जनवरी, १९५५ को इस संसार से विदा हो गया। डा० भटनागर के इस अकाल निर्वाण से देश की कई वैज्ञानिक संस्थाएँ ही निर्धन नही हुई बीसियों देश के नौनिहालों की शिक्षा की नौका भी मंझधार में रह गई, जो डा० भटनागर की मौन सहायता के भरोसे पर ही शिक्षा को पूर्ण करने की आशा रखते थे।

डा० भटनागर की सर्वतोमुखी प्रतिभा का एक प्रबल प्रमाण यह था कि जहां एक ओर आप विज्ञान के प्रामाणिक आचार्य थे वहां उर्दू के अच्छे शायर भी थे। विज्ञान और कविता का सदा से विरोध माना जाता है। डा० भटनागर इसका अपवाद थे। उन्हें उर्दू में कविता करने का शौक था, इसी कारण प्रायः शौकीन लोग उन्हें उर्दू के मुशायरों में घसीट ले जाया करते थे। उनकी उर्दू की कविता की सुन्दरता यह थी कि वह प्रायः सरल होती थी। साधारण व्यक्ति भी उसका मज़ा ले सकता था।

आचार्य चन्द्रशेखर वेंकट रमन

: ९ :

आचार्य चन्द्रशेखर वेंकट रमन

कुछ महापुरुषों का भविष्य झूले में ही प्रकट हो जाता है। उनकी असाधारण प्रतिभा के चिह्न बचपन में ही सूर्य की किरणों की भाँति चमकने लगते हैं। भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक, नोबल-पुरस्कार-विजेता और आध्यात्मिक आचार्य डा० चन्द्रशेखर वेंकट रमन ने १२ वर्ष की आयु में सम्मानपूर्वक मैट्रिक परीक्षा पास की, १४ वर्ष की आयु में एफ० ए० परीक्षा दी तो पहले दर्जे में उत्तीर्ण हुए, और १६ वर्ष की आयु में गणित और विज्ञान जैसे कठिन विषयों में आदरसहित बी० ए० की परीक्षा में सफल हुए। उस वर्ष सारी यूनिवर्सिटी में केवल आप ही थे, जो प्रथम श्रेणी प्राप्त कर सके।

उस आयु में भी आपके लिए परीक्षाओं को पास करना गौण था, और गणित तथा विज्ञान में नई खोज करना मुख्य था। आपका दिमाग सदा घटनाओं के मूल कारणों को जानने में लगा रहता था। आपने १९ वर्ष की आयु में एम० ए० परीक्षा में अभूत-पूर्व सफलता प्राप्त की। आप न केवल विज्ञान में सारे विश्व-विद्यालयों में प्रथम रहे, उससे पूर्व के उस विषय के सभी उत्तीर्ण छात्रों के प्राप्त अंकों को मात दे दी। आपकी इस सफलता का एक बड़ा कारण यह था कि आपकी प्रतिभा सदा उन सच्चाइयों तक पहुंचने का यत्न करती, और प्राय: सफल भी हो जाती, जो पश्चिम के वैज्ञानिकों के लिए पहेलियाँ बनी हुई थीं।

ऐसे प्रतिभाशाली महापुरुष का जन्म १७ नवम्बर, १८८८ को दक्षिण भारत के त्रिचनापल्ली नगर में हुआ था। वेंकट रमन के पिता का नाम चन्द्रशेखर अय्यर था। वेंकट रमन के जन्म के समय वह स्थानीय हाई स्कूल में अध्यापक थे। उसके पश्चात् अय्यर महोदय ने भौतिक विज्ञान में बी० ए० परीक्षा पास की और कालिज में प्रोफेसर हो गये। वेंकट रमन की माता पार्वती-जी ने एक ऐसे परिवार में जन्म लिया था, जो अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों और संस्कृत के पाण्डित्य के कारण दक्षिण भर में प्रख्यात था। इस प्रकार वेंकट रमन ने माता-पिता की गोद में धर्म और विज्ञान की घुट्टी का पान कर लिया था।

परीक्षाओं में असाधारण सफलता और अन्वेषणात्मक बुद्धि से प्रभावित और सन्तुष्ट होकर सरकारी अधिकारियों ने यह विचार किया कि युवक वेंकट रमन को विज्ञान की अधिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए विलायत भेजा जाये। और तो सब प्रकार से आप विलायत जाने के योग्य थे, परन्तु डाक्टरी परीक्षा होने पर विदित हुआ कि आपका स्वास्थ्य विदेश-यात्रा और वहां देर तक निवास को नहीं सह सकेगा। आपको विलायत जाने का विचार छोड़ना पड़ा, परन्तु निराश न होकर आपने आगे बढ़ने का एक अन्य उपाय निकाल लिया। विज्ञान में ऊंची उपाधि प्राप्त करने के लिए विलायत जाना आवश्यक था, परन्तु भारतीय अर्थ-विभाग की उच्चतम परीक्षा देने के लिए ऐसी कोई शर्त नहीं थी। श्री वेंकट रमन ने उसी प्रतिस्पर्धात्मक परीक्षा में बैठने का निश्चय किया। उस समय आपकी आयु २० वर्ष से भी कम थी। उस परीक्षा में आपने न केवल सफलता प्राप्त की, सारे भारत में

आपका पहला स्थान रहा। इतनी छोटी आयु में ऐसी असाधारण सफलता ने न केवल देशवासियों को, विदेश के विद्वानों को भी चकित कर दिया।

जिस आयु में साधारण युवक महाविद्यालय की परीक्षाओं में उलझे हुए होते हैं, उसमें श्री वेंकट रमन एम० ए० और अर्थ-विभाग की परीक्षाओं में असामान्य सफलता प्राप्त करके अर्थ-विभाग में डिप्टी-एकाउण्टैण्ट-जनरल के पद पर नियुक्त हो गये।

आपने अर्थ-विभाग की सरकारी नौकरी दस वर्षों तक की। इस समय में आप मद्रास, रंगून और कलकत्ता आदि कई केन्द्रों में पदारूढ़ रहे। सब स्थानों पर आपका कार्य अत्यन्त सन्तोषजनक रहा। यही कारण था कि सरकार ने आपको आर्थिक रोगों की संजीवनी बूटी समझ लिया था। जहां कहीं कोई कठिनाई होती, वहीं आपको भेज देते थे। इतनी सफलता प्राप्त होते हुए भी अर्थ-विभाग की नौकरी आपके लिए केवल साधन मात्र थी। नौकरी की दिनचर्या पूरी करने के अतिरिक्त आपका शेष सारा समय विज्ञान तथा गणित के रहस्यों के उद्घाटन में व्यतीत होता था। अवसर मिलते ही आप विश्वविद्यालयों की प्रयोगशालाओं में पहुंच जाते और परीक्षणों का सिलसिला जारी कर देते थे।

आप कई वर्षों तक कलकत्ते के अर्थ-विभाग में उच्च पदाधिकारी का कार्य करते रहे। वहां आपको अनुसन्धान का दुर्लभ अवसर मिल गया। वहां भारतीय विज्ञान-परिषद् नाम की एक प्रसिद्ध संस्था थी। भारत के बड़े-बड़े वैज्ञानिक उसके सदस्य थे। एक दिन ट्राम से सफर करते हुए आपको उसका साइनबोर्ड दिखाई दे गया। श्रीवेंकट रमन तो ऐसी संस्था की

तलाश में ही थे। मानो प्यासे को कुआँ मिल गया। आप वहीं ट्राम से उतर गये और खड़े होकर चिरकाल तक उस साइनबोर्ड को देखते रहे। वह एक ऐसी संस्था की तलाश में ही थे। वह सोचने लगे कि क्या सचमुच भारत में ऐसी संस्था है! आप बड़ी उत्सुकता से संस्था के कार्यालय में जा पहुचे। सौभाग्यवश वहां उस समय बंगाल के प्रमुख शिक्षाचार्य सर आशुतोष मुखर्जी, संस्था के मंत्री, डा० अमितलाल सरकार और अन्य बहुत से विज्ञान के विद्वान् उपस्थित थे। आपके वहां पहुंचने पर और अपना परिचय देने पर सभी उपस्थित सदस्य अत्यन्त प्रसन्न हुए। आपने जब उन्हें अपने मौलिक आविष्कारों का विवरण सुनाया तो उन लोगों की प्रसन्नता प्रेम में परिणत हो गई। श्री वेंकट रमन भारतीय विज्ञान-परिषद् के सदस्य बना दिये गये।

यह सोने और सुगंध का संबंध विज्ञान के लिए बहुत ही कल्याणकारी सिद्ध हुआ। सस्था को एक ऐसे प्रतिभाशाली वैज्ञानिक की आवश्यकता थी, जिसके लिए अनुसन्धान का कार्य नैसर्गिक चीज हो। रिवाज या कर्तव्य पालन के लिए अनुसन्धान एक चीज है और स्वभाव से प्रेरित होकर प्रकृति के रहस्यों तक पहुंचना दूसरी चीज। श्री वेंकट रमन जन्म से ही परोक्षदर्शी वैज्ञानिक थे। परिषद् के सदस्य होने से जहां उन्हें अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार ज्ञान-वृद्धि का अवसर मिला, वहां परिषद् को भी एक ज्ञानयोगी के संसर्ग से यश और प्रतिष्ठा की प्राप्ति हुई।

सर आशुतोष मुकर्जी विद्या के उत्कट प्रेमी होने के साथ-साथ मनुष्यों के पारखी थे। आप कोयले की खान से हीरे निका-

लने की कला में बहुत निपुण थे। परिचय के समय से ही आपका मन इस युवक वैज्ञानिक में गड़ गया था। १९१४ में कलकत्ते का साइंस कालिज सर आशुतोष के प्रयत्न से स्थापित हुआ था। उस समय से ही उसके लिए योग्य प्रिंसिपल की तलाश थी। कालेज के प्रबंधकर्ताओं की दृष्टि श्रीयुत वेंकट रमन पर पड़ी। इस नियुक्ति में एक कठिनाई आ गई। कालेज के लिए सर तारकनाथ पालिक ने जो दानपत्र लिखा था, उसकी एक आवश्यक शर्त यह थी कि ऐसे ही व्यक्ति को प्रिंसिपल बनाया जायेगा, जो विलायत से विज्ञान की परीक्षा पास करके आया हो। श्री वेंकट रमन में यह कमी थी। परन्तु उनसे योग्यतर व्यक्ति मिलना असम्भव था। इसलिए ट्रस्ट के सदस्यों ने उस शर्त को स्थगित कर दिया और श्री रमन को साइंस कालेज के प्रिंसिपल-पद पर नियुक्त कर दिया। सरकारी नौकरी में वेतन अधिक था। कुछ संबंधियों ने आपको यह सलाह दी कि उसे न छोड़ें, परन्तु आपने ज्ञान को धन से ऊँचा स्थान देते हुए लक्ष्मी की उपासना की अपेक्षा सरस्वती की आराधना को अधिक उपादेय मानकर नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया। १९२७ ई० के जुलाई मास तक श्रीयुत रमन ने १५ वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय और विज्ञान-परिषद् में अनुसन्धान कार्य का नेतृत्व किया। १५ वर्षों का समय अधिक नहीं है, पर उसमें डाक्टर रमन ने जो मौलिक और उपयोगी आविष्कार किये, वे इतने अधिक हैं कि वे कई व्यक्तियों के द्वारा १५ से बहुत अधिक वर्षों में होने भी कठिन प्रतीत होते हैं। श्री रमन के अनु-सन्धानों का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। सभी दिशाओं में आपकी पैनी प्रतिभा ने सत्य की खोज में यात्रा की और चमत्कारिक फल

प्राप्त किये। उनके एक-एक आविष्कार पर अलग-अलग पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। प्रकाश की किरणों का विश्लेषण करते हुए आपने एक विशेष प्रकार की किरणों का अन्वेषण किया, जिन्हें विज्ञान की परिभाषा में 'रमन किरण' (रमन द्वारा अन्वेषित किरणें) और उनके प्रभाव को 'रमन प्रभाव' इन नामों से निर्दिष्ट किया जाता है। 'रमन प्रभाव' के अन्वेषण से विज्ञान का मार्ग उतना ही सरल हो गया है जितना 'एक्स-किरणों' (X-Ray) के आविष्कार तथा रेडियो एक्टिविटी-संबंधी प्रारंभिक खोज से हुआ था।

रमन किरणों के अन्वेषण के अतिरिक्त आपके बड़े-बड़े अन्वेषण निम्नलिखित क्षेत्रों में हुए हैं :—१. शब्द-विज्ञान २. प्रकाश और रंग ३. समुद्र-जल का नीला रंग ४. किरणें ५. चुम्बकीय अनुसन्धान। अन्य छोटे-छोटे बहुत से अन्वेषणों की संख्या दर्जन से अधिक है। इन परीक्षणों में विशेषता यह है कि अन्य सभी परीक्षणों का केंद्र 'रमन प्रभाव' संबंधी अन्वेषण है। विज्ञान में यह एक नई बात थी। बहुत से प्रश्न जो इससे पूर्व बहुत जटिल समझे जाते थे, रमन प्रभाव के आविष्कार से सरल हो गये। विज्ञान के संसार ने श्री रमन के इस चमत्कारी आविष्कार का बड़े आदर से स्वागत किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि आपको पहले १९३० के नवम्बर मास में लन्दन की सुप्रसिद्ध रायल सोसायटी ने 'ह्यूजेज पदक' से सम्मानित किया और फिर उसी वर्ष के दिसम्बर में संसार का सबसे बड़ा बौद्धिक पुरस्कार 'नोबल प्राइज' दिये जाने की घोषणा हुई। यह पुरस्कार स्वीडन के प्रख्यात वैज्ञानिक अल्फ्रेड नोबल द्वारा प्रदान

किये गये कोष से प्रतिवर्ष संसार के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक को दिया जाता है। प्रतिवर्ष दिये जाने वाले पुरस्कार की मात्रा एक लाख दस हजार रुपये है। यह पुरस्कार समर्पित करने के लिए पुरस्कार देने वाली सोसाइटी ने डाक्टर रमन को स्वीडन की राजधानी स्टाकहॉम में निमन्त्रित किया। आप सपत्नीक वहां गये और पुरस्कार-वितरण के महोत्सव में सम्मिलित हुए।

देश और विदेश की शिक्षा और विज्ञान-संबंधी संस्थाओं की ओर से डा० रमन को जिन पदक तथा उपाधियों को प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उनकी संख्या डेढ़ दर्जन के लगभग है।

इसके अतिरिक्त आप संसार की अनेक प्रतिष्ठित वैज्ञानिक संस्थाओं के सम्मानित सदस्य एवं आनरेरी फैलो भी हैं। इनमें कुछ के नाम यहाँ दिये जाते हैं:—रायल फिलासफिकल सोसाइटी, ग्लासगो; रायल आयरिश एकेडेमी; ज्यूरिच फिजीकल सोसाइटी; ड्यूटशे एकेडमी आफ म्यूनिक; हंगेरियन एकेडमी आफ साइंसेज; इंडियन मैथेमेटिकल सोसाइटी; इंडियन कैमिकल सोसाइटी; नेशनल इंस्टीट्यूट आफ साइंस; इंडिया और इंडियन साइंस कांग्रेस आदि-आदि।

वास्तव में उपर्युक्त संस्थाओं ने सर रमन की विज्ञान-सेवाओं को स्वीकार करके और उन्हें सम्मानित करके स्वयं अपने आपको गौरवान्वित किया है।

सर वेंकट रमन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह स्वभाव से वैज्ञानिक हैं। परिस्थितियों से उन्हें सहायता अवश्य मिलती रही है, परन्तु उनके उच्च अन्वेषणों का मुख्य आधार उनकी पैनी प्रतिभा ही रही है। यह नहीं कि आपको परि-

स्थितियों से सदा सहारा ही मिलता रहा हो। आपकी उन्नति में सबसे बड़ा बाधक बुरा स्वास्थ्य रहा है। बहुत छोटी आयु में असाधारण मानसिक उन्नति वालों को प्रायः प्रकृति का यह दण्ड भोगना पड़ता है। स्वास्थ्य की निर्बलता के कारण ही युवावस्था में डा० रमन शिक्षा प्राप्त करने विलायत न जा सके। उसके पश्चात् भी समय-समय पर स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण आपको लाचार होकर विश्राम लेना पड़ा, परन्तु अपने मनोबल से सब विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करते हुए आप आगे ही आगे बढ़ते गये, और एक वह दिन आया जब आपकी गिनती संसार के प्रमुख वैज्ञानिकों में होने लगी।

विज्ञान के विशेषज्ञ होने के साथ-साथ इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि विषयों में भी आपका पाण्डित्य बहुत ऊंचे दर्जे का माना जाता है। भारत की अनेक प्रादेशिक भाषाओं के ज्ञाता होने के अतिरिक्त आप यूरोप की भी कई भाषाओं का ज्ञान रखते हैं। एक सुन्दर बात यह है कि आपके समान आपकी पत्नी भी भारत की सात-आठ भाषाएँ जानती हैं और साथ ही वीणावादन में अत्यन्त प्रवीण हैं।

डा० रमन से मिलने वालों पर उनकी नम्रता और सादगी का बहुत अद्भुत प्रभाव पड़ता है। पुराने शास्त्रकार मुनियों की भाँति आपका रहन-सहन बहुत ही सादा और तपोमय है। विज्ञान आपके लिए कोई कमाई का साधन नहीं, अपितु जीवन की उच्चतम साधना है।

झाँसी की रानी

: १० :

झांसी की रानी

आप कल्पना कीजिए कि सारा आकाश काले-काले बादलों से आच्छन्न हो, ऊंचे पर्वत की चोटी पर घना अन्धकार छाया हुआ हो, उस समय बादलों में एक बिजली चमके और अन्तरिक्ष को प्रकाशयुक्त करती हुई पर्वत की चोटी को टक्कर मारकर गिरा दे और इस प्रकार अपने बल और तेज का स्थायी स्मारक बनाकर क्षण भर में लुप्त हो जाय। जैसा वह दृश्य होगा, वैसा ही दृश्य जब हम झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का जीवन-वृत्तान्त पढ़ते हैं, तब आँखों के सामने घूम जाता है। लक्ष्मीबाई सन् १८३५ में उत्पन्न हुई। १८४२ में झांसी के महाराज गंगाधरराव से उनका विवाह हुआ। विवाह के दस वर्ष बाद गंगाधरराव की मृत्यु हो गई, जिससे लक्ष्मीबाई राज्य की अधिकारिणी बनीं। उस अधिकार को अंग्रेजी सरकार ने नहीं माना, इस कारण महारानी लक्ष्मीबाई को झांसी का किला छोड़कर महलों में चला जाना पड़ा। लगभग चार वर्ष तक राज्याधिकार से वंचित होकर उस देवी ने तपस्विनियों की तरह जीवन बिताया। १८५७ में भारत भर में विद्रोह की आग भड़क उठी। उस आग की ज्वालाएँ मेरठ से दिल्ली और दिल्ली से कानपुर होती हुई झांसी में भी पहुंच गईं, जिससे प्रेरित होकर झांसी की प्रजा ने वहां के सब अंग्रेज अधिकारियों और सिपाहियों को मार डाला और महारानी को महलों से लाकर राजगद्दी पर बिठा दिया। महारानी लक्ष्मीबाई ने राज्य की बागडोर अपने

हाथों में लेकर दस महीनों तक ऐसा शानदार शासन किया कि अंग्रेजी सरकार के पाँव डाँवाडोल हो गये और उसने महारानी को विद्रोही घोषित करके असाधारण सजधज के साथ झांसी पर आक्रमण कर दिया। उस आक्रमण का मुकाबला रानी लक्ष्मीबाई ने जिस अलौकिक तेजस्विता के साथ किया, संसार के इतिहास में उसकी उपमा मिलनी कठिन है। वीरता उसे कहते है, जिसका सिक्का शत्रु भी मान जाएँ। जिन आधा दर्जन भर बड़े-बड़े अनुभवी और प्रचण्ड अंग्रेज सेनापतियों ने मिलकर उस तेईस साल की युवती से झांसी को छीना, उन सभी ने मुक्तकण्ठ से यह बात स्वीकार की है कि क्रान्ति के सब सेनापतियों और योद्धाओं में से यदि किसी को निर्भयता और वीरता के लिए प्रथम स्थान दिया जा सकता है तो वह झांसी की रानी लक्ष्मीबाई है। लक्ष्मीबाई के अनुपम साहस को हम एक चमत्कार कह सकते है। वह अपने से बीस गुना अधिक साधन सम्पन्न शत्रुओं से लड़ती हुई, रणक्षेत्र में काम आकर एक ऐसा दृष्टान्त स्थापित कर गई जो भारतवासियों को सदा जीवन का सन्देश सुनाता रहेगा। और यह सब कुछ हो गया कितने दिनों में ? मृत्यु के समय रानी की आयु केवल तेईस साल की थी। वह उन्नीसवी सदी में भारत में छाये हुए अन्धकार को चीरती हुई ब्रिटिश-राज्य रूपी पर्वत के मस्तक पर कड़क कर गिरीं और उसपर ऐसा निशान करके विलीन हो गईं, जो अमिट हो गया।

लक्ष्मीबाई ने एक बहुत साधारण हैसियत के परिवार में जन्म लिया था। मोरोपन्त महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे, परन्तु पेशवा बाजीराव द्वितीय के पदच्युत होकर

कानपुर में नजरबन्द हो जाने पर महाराष्ट्र के अन्य सरदारों की तरह मोरोपन्त भी लाचार और दुर्दशाग्रस्त होकर बनारस में छः सौ रुपये वार्षिक पर एक नौकरी कर रहे थे। उनकी पत्नी का नाम भगीरथीबाई था। उनके यहां १६ नवम्बर, १८३५ को जो लड़की उत्पन्न हुई उसका नाम मनुबाई रखा गया। पति के कुल में जाकर मनुबाई का नाम लक्ष्मीबाई हुआ। मनुबाई जन्मकाल से ही असाधारण लक्षणों से युक्त प्रतीत होती थी। उसकी आँखों की चमक और हाथ की रेखाओं को देखकर ज्योतिषी लोग प्रारम्भ से ही यह भविष्यवाणी करने लगे थे कि यह कन्या किसी राजा की रानी बनेगी। जब बाजीराव द्वितीय की मृत्यु पर धूधूपन्त नाना साहिब उनके उत्तराधिकारी घोषित हुए, तब मोरोपन्त अपने परिवार के साथ कानपुर में पेशवा के निवास-स्थान ब्रह्मावर्त में रहते थे। बाजीराव छोटी-सी चंचल कन्या मनुबाई को बहुत प्यार करते थे। उन्होंने उसका प्यार का नाम 'छबीली' रख छोड़ा था, और उसकी वीर-प्रवृत्तियों को देखकर यह आज्ञा दे दी थी कि मनुबाई को भी नाना साहब के साथ ही शस्त्र-विद्या सिखलाई जाए। दोनों की रण-शिक्षा साथ-साथ होने लगी।

उस समय की एक घटना प्रसिद्ध है। एक दिन नाना साहब हाथी पर सवार होकर घूमने को निकले। लक्ष्मीबाई बच्ची थी, वह भेद की बात क्या जाने, उसने आग्रह किया कि 'मैं भी हाथी पर चढ़कर घूमने जाऊंगी।' नाना साहब टालकर चले गये। पर मानिनी कन्या रोने लगी। पिता ने दुखी होकर कहा—"अभागिनी, यदि हाथी पर ही सवार होना था तो किसी राजघराने में जन्म लिया होता। तेरे भाग्य में विधाता ने दुःखों का हाथी बाँध दिया

है तो हाथी की सवारी कैसे करेगी ?"

मनुबाई ने हार न मानकर साभिमान उत्तर दिया—

"हां, मेरे भाग्य में एक छोड़कर दस-दस हाथी बदे हैं। मैं हाथी पर अवश्य बैठूंगी।"

मनुबाई की यह भविष्यवाणी सच्ची सिद्ध हुई। पेशवा की अनुमति से उसका विवाह झांसी के महाराज गंगाधरराव से हो गया। जब यह विवाह-सम्बन्ध हुआ तो गंगाधरराव को अभी राज्य के पूरे अधिकार प्राप्त नही हुए थे। यह भाग्य की ही बात थी कि विवाह के सात मास पीछे ही उन्हें अंग्रेजी सरकार से राज्य के पूरे अधिकार प्राप्त हो गये, जिससे मनुबाई लक्ष्मीबाई के रूप में दस-दस हाथियों की स्वामिनी बन गई।

१८५१ में गंगाधरराव के पुत्र उत्पन्न हुआ। राज्य भर में पुत्रोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया, परन्तु दुर्भाग्यवश वह तीन मास से अधिक जीवित न रह सका। गंगाधरराव का स्वास्थ्य पहले से ही ठीक नही था। पुत्र-वियोग की चोट से उनकी दशा बहुत बिगड़ गई, जिससे चिन्ता होने लगी कि यदि उनका शरीरान्त हो गया तो राज्य का उत्तराधिकारी कौन होगा ? मन्त्रियों और बन्धुओं ने परामर्श दिया कि रिश्ते के किसी होन-हार बालक को दत्तक वना लिया जाये। दत्तक को गोद लेने के लिए अंग्रेजी सरकार की अनुमति आवश्यक थी, अतः महाराज की ओर से बुन्देलखण्ड के असिस्टेण्ट पोलिटिकल एजेण्ट मेजर एलिस के पास एक पत्र भेजा गया, जिसमें आनन्दराव नाम के एक सम्बन्धी बालक को गोद ले लेने की सूचना देते हुए सरकार की अनुमति मांगी गई थी। भारत में उस समय डलहौजीशाही

का प्रारम्भ हो चुका था। लार्ड डलहौजी गवर्नर-जनरल बनकर भारत आने के समय यह निश्चय कर चुका था कि उसे इस देश की रियासतों को समाप्त करके अंग्रेजी राज्य में विलीन कर लेना है। उसे जहां और जब भी अवसर मिला वह किसी न किसी ढंग से रियासतों को तोड़कर उनके शासकों को पेंशनजीवी बनाता गया। झांसी के महाराज का आवेदनपत्र भी उसी के पास पहुंचा। उसने पूर्वनिश्चित नीति के अनुसार दत्तक गोद लेने की अनुमति देने से इन्कार कर दिया। यह पत्र-व्यवहार चल ही रहा था कि सन् १८५३ के नवम्बर मास में महाराज गंगाधरराव की मृत्यु हो गई। उस समय महारानी लक्ष्मीबाई की आयु अठारह वर्ष की थी। ऐसी छोटी आयु में सिर पर इतना भारी दुःख का पहाड़ टूटने पर साधारण स्त्री की हिम्मत टूट जाती है। महारानी को दुःख तो बहुत हुआ, परन्तु वह शीघ्र ही संभल गईं और राजकाज को संभालने का यत्न करने लगीं। महारानी ने फिर एक बार यत्न किया कि गोद लिये हुए दत्तक बालक को महाराजा का उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया जाय परन्तु लार्ड डलहौजी अपने हठ पर कायम रहा। उसने फैसला किया कि झांसी का राज्य अंग्रेजी सल्तनत का भाग बना दिया जाय, और महारानी लक्ष्मीबाई को पांच हजार रुपया वार्षिक पेंशन देकर महलों में रहने की अनुमति दे दी जाय। किले पर अंग्रेजी सेना का अधिकार रहे। यद्यपि यह आज्ञा सर्वथा अन्यायपूर्ण थी, तो भी लाचार होकर महारानी को स्वीकार करनी पड़ी। वह किला छोड़कर महलों में तपस्विनी विधवा की तरह रहने लगीं।

झांसी पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। पुराने अधिकारियों

और सिपाहियों को नौकरी से अलग करके उनके स्थान पर या तो गोरों की भर्ती कर ली गई अथवा अंग्रेज-भक्त हिन्दुस्तानी नियुक्त कर लिये गये। पांच हजार रुपये वार्षिक में महारानी का खर्च चलना सर्वथा असम्भव था, इस कारण महारानी ने सरकार से प्रार्थना की कि राज्य के कोष में विद्यमान बीस लाख रुपये में से कम से कम एक लाख रुपया उन्हें खर्च के लिए दे दिया जाय तो उनका काम चल जायेगा। इस पर उत्तर मिला कि महाराज ने जिस बालक को गोद लिया था, वह धन बालिग होने पर उसी को मिल सकता है, अन्य किसी को नहीं। वह बीस लाख रुपया सरकारी खजाने में जमा कर लिया गया।

जिस समय असिस्टेंट पोलिटिकल एजेण्ट ने महारानी को किला छोड़ने का हुक्म सुनाया तो उनके दिल पर गहरा आघात पहुंचा। आंखों से आंसुओं की धारा वह निकली, जिन्हें छुपाने के लिए एजेण्ट से दूसरी ओर मुह करके महारानी ने स्पष्ट शब्दों में दृढ़ता से कहा--"मै अपनी झांसी दूगी नही।"

हृदय मे झांसी को न देने का संकल्प छिपाए हुए महारानी ने तीन वर्ष तक महलों में तपश्चर्या की। १८५७ के मई मास में मेरठ की छावनी में सिपाही-विद्रोह की वह चिनगारी प्रकट हुई जो शीघ्र ही सशस्त्र क्रान्ति की अग्नि के रूप में देश भर मे फैल गई। एक शहर से दूसरे शहर में और एक प्रदेश से दूसरे प्रान्त में होती हुई उसकी ज्वालाएँ जून मास के अन्त में झांसी में भी जा पहुंचीं। महारानी महलों में घटना-चक्र की प्रतीक्षा ही कर रही थी कि झांसी की प्रजा अंग्रेजों पर टूट पड़ी। विद्रोह की समाप्ति के पश्चात् बहुत से अंग्रेज अफसरों ने इस बात को स्वीकार किया

था कि विद्रोही प्रजा ने उस समय अंग्रेजों तथा उनके पिट्ठुओं पर जो प्रहार किये, उनमें महारानी का कोई हाथ नहीं था। महारानी को तो उन घटनाओं का तब पता लगा, जब अपनी महारानी पर हुए अत्याचारों से विक्षुब्ध भारतीय सिपाहियों और झांसी के प्रजाजनों ने वहां के अंग्रेजों और उनके समर्थकों का पूरा सफाया कर दिया।

झांसी में अंग्रेजी राज्य का अन्त हो जाने पर नागरिकों और सिपाहियों का एक प्रभावशाली शिष्टमण्डल महारानी की सेवा मे उपस्थित हुआ। शिष्टमण्डल ने किले की चाबियाँ महारानी के चरणों में रखकर प्रार्थना की कि आप किले में पधारकर राज्य का शासन अपने हाथों में लें। महारानी ने उस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। राज्य भर में मुनादी करा दी गई कि महारानी लक्ष्मी-बाई ने झांसी का शासन अपने अधिकार में ले लिया है।

महारानी लक्ष्मीबाई को स्वतन्त्र रूप से झांसी पर शासन करने का अवसर केवल दस महीनों तक मिला। उसके पश्चात् अंग्रेजी सेना बरसाती बादलों की तरह चारों तरफ से उमड़कर झांसी पर बरसने के लिए पहुंच गई। तब महारानी को शासन का काम मन्त्रियों पर छोड़कर तलवार हाथ में ले लेनी पड़ी। बीच के दस महीनों में लक्ष्मीबाई ने जिस दूरदर्शिता और चातुरी से शासन किया, उसकी शत्रु और मित्र सभी लेखकों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। अपने धार्मिक नित्य कर्मों का विधिवत् पालन करते हुए वह प्रतिदिन प्रजा की शिकायतें सुनती थीं, न्यायासन पर बैठती थीं, नगर का दौरा करके अपनी आंखों से प्रजा की दशा को देखती थीं और इन सब कार्यों के अतिरिक्त अंग्रेजों के होने वाले

आक्रमणों से राज्य की रक्षा के लिए सैन्य-संगठन और मोर्चाबन्दी की व्यवस्था भी स्वयं करती थीं। उस समय आप प्रायः मर्दाने वेश में घोड़े पर सवार होकर किले के विशेष स्थानों पर पहुंचतीं और अपने सामने मोर्चों को मजबूत बनवाकर उन पर तोपें चढवाती थीं।

महारानी के प्रजा-प्रेम का एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है। एक दिन महारानी देवी-दर्शन करके मन्दिर से लौट रही थीं। रास्ते में बहुत से गरीब लोग इकट्ठे हो गये और हल्ला करने लगे। महारानी के पूछने पर उन्होंने बतलाया कि हमारे पास कपड़े नही है, जाड़े का मौसम है, जिसमें हमें शीत बहुत लगता है। महारानी उन्हे यह आश्वासन देकर दरबार में आ गईं कि शीघ्र ही इस की व्यवस्था की जायेगी और आज्ञा दी कि शहर में जितने दर्जी है वे सब रुईदार फतूहियां और कनटोपे सिलने के लिए बिठा दिये जायें। चार दिन तक कपड़े तैयार होते रहे, पांचवें दिन ढिढोरा पिट गया कि जिसके पास गरम कपड़ा न हो वह सायंकाल के समय राज-महल के सामने जाकर कपड़े ले सकता है। उस दिन दो हजार व्यक्तियों को एक-एक फतूही, कनटोपा और कम्बल बाँट दिये गये। और साथ ही सब को भोजन भी कराया गया। इस तरह दृढ़ता और उदारता से दस मास तक उस वीरांगना ने झांसी का मातृवत् शासन किया।

१८५७ के अन्त में, राज्य-क्रान्ति के युद्ध में, अंग्रेजों का पलड़ा जो भारी होना शुरू हुआ तो भारी ही होता गया। दिल्ली, बनारस, कानपुर आदि नगर कुछ महीनों तक स्वतन्त्र रहकर फिर परा-धीनता की जंजीरों में बंध गये। अन्त में झांसी की बारी आई।

यद्यपि तब तक महारानी लक्ष्मीबाई ने कोई ऐसा कार्य नहीं किया था, जिसे राजद्रोह का नाम दिया जा सके। यह निश्चित बात है कि जून के महीने में झांसी में रहने वाले गोरों का जो संहार हुआ, उसमें महारानी का कोई हाथ नहीं था। स्वयं अंग्रेज अफसरों ने यह बात स्वीकार की थी। जब झांसी में किसी तरह का शासन न रहा, तब महारानी ने प्रजा के संरक्षण का बोझ अपने कन्धों पर ले लिया। यह भी प्रमाणित है कि महारानी ने राज्य संभाल लेने पर उसकी सूचना देने के लिए पोलिटिकल एजेण्ट को कई पत्र भेजे थे, जो नत्थेखां नाम के एक महाराज के विरोधी सरदार ने रास्ते में ही रोक लिये। परन्तु अंग्रेज अधिकारी उस समय दोषादोष के विवेक से शून्य हो गये थे। उनका तो अपना पाप पुकार रहा था। उनके अन्दर से आवाज उठती थी कि हमने लक्ष्मीबाई का राज्य छीना है, वह हम से शत्रुता अवश्य करेगी।

१८५७ के अन्त में गवर्नर-जनरल की आज्ञा से बुन्देलखण्ड पर आक्रमण करने की विशाल योजना बनाई गई। विलायत से सर ह्यू रोज नामक विशेष अनुभवी अफसर को बुलाकर झांसी पर आक्रमण करने वाली सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त किया गया। ह्यू रोज सितम्बर में भारत पहुंचा और हर प्रकार से लैस होकर, लगभग साठ हजार सैनिकों की सेना के साथ बुन्देलखण्ड के विद्रोहियों का दमन करने के लिए सितम्बर के महीने में मध्यप्रदेश के मुख्य नगर सागर की ओर रवाना हुआ। क्रान्ति के केन्द्र छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखरे हुए थे। अंग्रेजों की महती सेना साधन-सम्बल-युक्त और सुनियन्त्रित थी। फलतः सर ह्यू रोज की सेना विद्रोह के केन्द्रों सागर, स्योहोट आदि को जीतती हुई मार्च के महीने

में झांसी के समीप पहुँच गई।

प्रारम्भ में तो महारानी को यह निश्चय नहीं हुआ कि अंग्रेजी सेना का यह भारी घटाटोप झांसी को जीतने के लिए है। वह अपने दिल में समझ रही थीं कि मैंने तो अंग्रेजों के प्रति कोई विद्रोह का काम नहीं किया, तब मुझ पर आक्रमण क्यों होगा? परन्तु जब अंग्रेजी सरकार की सेनाएँ वेतवा नदी को पारकर झांसी की सीमाओं के समीप पहुंच गई, तब उन्हें अंग्रेजों के मन्सूबों का भान हो गया। महारानी ने इतिकर्त्तव्यता पर विचार करने के लिए झांसी के सरदारों की सभा बुलाकर उनके सामने यह प्रश्न रखा कि अंग्रेजों से लड़ा जाये या उनके पास अधीनता स्वीकार करने का सन्देश भेज दिया जाय। कुछ सरदारों का मत था कि अधीनता स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर है। महारानी उनसे सहमत नहीं हुई। उन्हें विश्वास था कि अधीनता स्वीकार कर लेने पर भी अंग्रेज उन्हें स्वतन्त्र नहीं छोड़ेंगे। उस वीरांगना ने हार मानकर बन्दी बनने की अपेक्षा लड़कर विजय या वीरोचित्त मृत्यु में से किसी एक को उपलब्ध करने का निश्चय किया। झांसी में उस समय छः बड़ी-बड़ी तोपें थीं। उनके नाम थे—गर्गज, भवानी शंकर, कड़क, बिजली, घनगर्ज और नालदार। महारानी ने स्वयं खड़ी होकर अपने सामने उन तोपों को किले की दीवारों पर ऐसे ढंग से रखवा दिया कि उनका मुँह आक्रान्ताओं की ओर रहे। २३ मार्च को अंग्रेजी सेना ने झांसी पर आक्रमण का श्रीगणेश कर दिया। पहले छः दिन तक तोपों की लड़ाई रही। महारानी के पास बहुत अच्छा निशाना लगाने वाले मुसलमान गोलन्दाज थे। तोपें भी बहुत जबर्दस्त थीं। पहले दो-तीन दिन तक तो झांसी की तोपों

के मारे अंग्रेज सेनाओं की प्रगति बिलकुल बन्द-सी रही। परन्तु जब रात के समय अन्धेरे में अंग्रेजी सेनाओं ने भी अपनी तोपें सामने की पहाड़ियों पर चढ़ा लीं, तो लड़ाई बराबर की हो गई। दोनों की स्थिति में भेद इतना था कि अंग्रेजों के पास अधिक और बढ़िया तोपें थीं और वे खुले स्थान में होने के कारण स्थिति में परिवर्तन कर सकते थे। उधर झांसी घेरे में थी। अंग्रेजों की तोपों के निशाने ठीक ठिकानों पर लगकर किले को हानि पहुंचा रहे थे। इतने दिनों तक तोपों की लड़ाई न चलती, यदि महारानी लक्ष्मीबाई जैसी चतुर और वीर सेनानी उनका संचालन न कर रही होती। अंग्रेज सेनापति यह देखकर चकित हो जाते थे कि वे जिस तोप को आज चुप करा देते थे, रात ही रात में वह तोप किले के दूसरे बुर्ज पर पहुंच जाती और वहां से दूसरे दिन प्रातःकाल गोले बरसाने लगती। वह लोग सफेद घोड़े पर सवार महारानी को प्रायः किले की दीवारों पर घूम-घूमकर सेना-संचालन करते देखते थे। निशाना लगाकर गोलियां भी चलाते थे, परन्तु मानो कोई दैवी कवच महारानी की रक्षा कर रहा था।

छः दिन तक निरन्तर परिश्रम करके अंग्रेजों की तोपों ने किले की दीवारों में कई ऐसे छेद कर दिये, जिनमें से अन्दर घुसने का रास्ता बनाया जा सकता था। सर ह्यू रोज अगले दिन किले पर आक्रमण करने की योजना बना ही रहा था कि एक नई मुसीबत खड़ी हो गई। प्रसिद्ध विद्रोही सेनापति ताँतिया टोपे एक बड़ी सेना लेकर झांसी की सहायता के लिए आ पहुंचा। अंग्रेजी सेना के दो दिन ताँतिया की सेना को हटाने में लग गये। साधनों की कमी के कारण क्रान्तिकारियों की सेनाएँ देर तक खड़ी न रह सकीं

और झांसी से बारह-तेरह मील दूर तक पीछे हट गईं। इस प्रकार बाहर से निश्चिन्त होकर २ अप्रैल के प्रातःकाल सर ह्यू रोज ने अपनी सेनाओं को झांसी के किले पर चारों ओर से आक्रमण करने का आदेश दे दिया।

उस समय से अंग्रेजी सरकार की सेनाओं का महारानी लक्ष्मीबाई की सेनाओं से जो संग्राम शुरू हुआ, वह १८ जून तक जारी रहा। उस संग्राम का वृत्तान्त इस छोटी-सी जीवनी में देना असम्भव है। उसकी एक-एक घटना इतनी रोमांचकारिणी है कि उसका थोड़े शब्दों में वर्णन करना असम्भव है। यहां यही सम्भव है कि उस संग्राम के घटनाचक्र को संक्षेप से लिखकर उसमें महारानी ने जिस असाधारण वीरता और चतुरता का प्रदर्शन किया, उसका थोड़ा-सा उल्लेख कर दिया जाय।

३ अप्रैल को अंग्रेज सेनाओं का जो आक्रमण आरम्भ हुआ, वह दोपहर तक तो कुछ रुका रहा, परन्तु उसके पश्चात् कई रास्तों से अंग्रेज सिपाही शहर के अन्दर घुस गये। उस समय स्वयं महारानी तलवार हाथ में लेकर मैदान में उतरीं और लगभग डेढ़ हजार सिपाहियों को साथ लेकर अंग्रेज सेनाओं पर टूट पड़ीं। वह आक्रमण ऐसा भयानक था कि पहले तो अंग्रेज सिपाहियों के पांव उखड़ गये, परन्तु पीछे से और हजारों सिपाही अन्दर घुस आये। उस बाढ़ के सामने महारानी को रुक जाना पड़ा। तब स्थिति को देखने के लिए किले की दीवार पर चढ़ गईं जहाँ से उनकी दृष्टि अंग्रेज सैनिकों द्वारा नष्ट की जाती हुई अपनी झांसी पर पड़ी तो उनके साथियों ने पहली बार उनकी आंखों में आँसू देखे। एक बार तो वह सहम-सी गईं, परन्तु शीघ्र ही संभल गईं और इस संकल्प

के साथ दीवार से उतर आई कि यदि इस समय झांसी को छोड़ना भी पड़े तो फिर लौटकर झांसी को शत्रुओं के हाथ से निकालूँगी।

महारानी लक्ष्मीबाई ने दो सौ सिपाही साथ लिये और पूरा सिपाहियाना वेश पहनकर घोड़े पर सवार हो गई। उस समय उनके हाथ में तलवार थी और पीठ पर एक चादर से पुत्र दामोदर बंधा हुआ था। चारों ओर अंग्रेजों का घेरा था, केवल एक उत्तरीय द्वार खाली था। उससे होकर महारानी साफ निकल गई। महारानी के ग्यारह दिन के युद्ध और इस प्रकार साफ निकल जाने का अंग्रेज सेनापति ह्यू रोज पर ऐसा प्रभाव पड़ा था कि उसके मुँह से यह स्मरणीय वाक्य निकल गया——

"The Rani was the bravest and the best military leader of the rebels."

अर्थात् रानी विद्रोहियों मे से सबसे अधिक वीर और सेना-संचालन में कुशल सेनानी थीं। यह तो अधूरा सत्य था। यदि ह्यू रोज यह कहता कि रानी अपने समय के अंग्रेज और भारतीय दोनों ओर के सेना-संचालकों में सबसे अधिक निर्भय और वीर थीं, तो पूरा सत्य होता।

महारानी के कालपी की ओर प्रयाण करने के पश्चात् अंग्रेज सिपाहियों ने झांसी में जो लूट-मार मचाई, उसने चंगेजखां और तैमूर के अत्याचारों को मात कर दिया। सात दिन तक किला, महल और मन्दिर, सबको समान रूप से लूटा गया तथा सिपाहियों और नागरिकों, सबकी समान रूप से हत्या की गई।

जब अंग्रेज सेनापति को समाचार मिला कि पंछी उड़ गया, तो कुछ समय तक तो वह स्तब्ध रह गया। फिर उसने लेफ्टिनेंट

बाकर को आज्ञा दी कि रानी का पीछा करके उसे गिरफ्तार करो। पीठ पर पुत्र को लादे हुए अकेली रानी आगे-आगे और शिकारी दल पीछे-पीछे। उस साहसिक दौड़ ने न जाने कितने कवियों और चित्रकारों की प्रतिभा को जाग्रत किया है। महारानी का तेजस्वी सफेद घोड़ा सरपट भागा जा रहा था, फिर भी महारानी का खड्ग निरन्तर अपना काम कर रहा था। जो गोरा सिपाही पास आता, एक ही बार में ठण्डा हो जाता। अन्त में स्वयं बाकर भी महारानी के वार से घायल हो गया तो शिकारियों की हिम्मत टूट गई। वे अपना-सा मुँह लेकर झांसी वापिस चले गये।

महारानी २४ घण्टों तक निरन्तर घोड़े की सवारी करती हुई, १०२ मील की यात्रा तय करके कालपी जा पहुँची, जहां नाना साहब के भाई राव साहब और ताँतिया टोपे आदि क्रान्तिकारी नेता पहले से पहुंचे हुए थे। कालपी में महारानी के पहुंचने पर मानो आशा का प्रभात आ गया। वह लोग पराजय से पस्त होकर निराश-से हो रहे थे कि पराजय में भी विजयिनी लक्ष्मीबाई के पहुंचने पर उनके हृदय उछल पड़े। परस्पर परामर्श से निश्चय हुआ कि युद्ध जारी रखा जाये। सर ह्यू रोज ने जब सुना कि रानी कालपी पहुंच गई, तो उसने अपनी सेनाओं का मुँह उधर मोड़ दिया।

मई के अन्तिम दिनों में अंग्रेजी सेना कालपी के निकट पहुंची। विद्रोहियों की सेना ने दो-तीन स्थानों पर उसे रोकने का यत्न किया परन्तु सफलता न हुई। कालपी में खूब जमकर लड़ाई हुई। यों तो भारतीय सेना में बड़े-बड़े नामी नेता थे। राव साहब तो आधे पेशवा ही समझे जाते थे, तांतिया टोपे

भी विद्यमान् थे और उनकी सेना भी थी। परन्तु असली युद्ध तो अतुल-साधन-सम्पन्न अंग्रेजी सेना और दो-ढाई सौ सिपाहियों की अग्रणी खड्गहस्ता महारानी के बीच हुआ। वह तलवार चलाती हुई जिधर निकल जातीं, उधर शत्रुओं में कुहराम मचा देतीं। उस अकेली के हाथों से सैकड़ों शत्रु धराशायी हुए परन्तु जब राव साहब और तांतिया टोपे जैसे अग्रणी इस निश्चय पर पहुंच गये कि अब कालपी से निकल जाने में ही भला है तो महारानी को भी उनके साथ जाना पड़ा। कालपी को अंग्रेजों के कब्जे में छोड़कर वे लोग ग्वालियर की ओर रवाना हो गये।

ग्वालियर से ४६ मील की दूरी पर गोपालपुर नामक एक शहर था। विद्रोही नेता वहां एकत्र होकर भावी कार्यक्रम की योजना बनाने लगे। राव साहब सर्वथा निराश थे। शेष नेताओं की आंखों के आगे भी अन्धकार-सा छाया हुआ था। एक लक्ष्मीबाई थीं, जिनकी अन्तरात्मा हार मानने से इन्कार करती थी। उन्होंने परामर्श दिया कि एक बार और सारी शक्ति लगाकर विजय प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये। सिपाही-विद्रोह के अंग्रेज इतिहास-लेखक मि० मैलिसन ने इस परामर्श का वृत्तान्त देते हुए लिखा है कि "केवल चौथे विद्रोही नेता (महारानी लक्ष्मी बाई) में ही इतनी प्रतिभा, ऐसी साहसिकता और इस प्रकार की अन्तिम बार कुछ कर गुज़रने की भावना भी थी कि वह किसी महान् कार्य को करने की योजना बना सकता था।" महारानी ने सलाह दी कि किसी प्रकार ग्वालियर के किले पर अधिकार कर लिया जाय। वह किला सुरक्षा की दृष्टि से बहुत बढ़िया और लग-

भग अभेद्य समझा जाता था। महारानी के साहस ने अन्य नेताओं के हृदयों में भी साहस का संचार कर दिया। ग्वालियर को लेने का मनसूबा पक्का करके सिन्धिया की सेनाओं को अपने पक्ष में करने के लिए तांतिया टोपे को गुप्त रूप से भेजने का निश्चय हुआ। तांतिया टोपे साधारण सिपाही की स्थिति से बढ़ता-बढ़ता सेनानी के पद तक पहुंचा था। वह साधारण सैनिकों से भली प्रकार परिचित था। चुपचाप ग्वालियर पहुंच कर तांतिया ने सिन्धिया के अधिकतर मराठा सिपाहियों को अपने पक्ष में कर लिया। यह सूचना मिल जाने पर क्रान्तिकारी दल ने ग्वालियर पर चढ़ाई कर दी।

विद्रोही दल के ग्वायिलर की ओर प्रयाण के समाचार ने अंग्रेजों के उपनिवेश में तहलका-सा मचा दिया। वे जानते थे कि यह सारा काण्ड झांसी की रानी का तैयार किया हुआ है। फिर एक बार दांत पीसकर सर ह्यू रोज ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए नये युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी।

ग्वायिलर को लेने में नेताओं को अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। अंग्रेज अधिकारी ग्वालियर के विद्रोहियों के हाथ में जाने से कितना डरते थे, इसका अनुमान उस समय के गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग के इन शब्दों से लग सकता है—"If the Sindia joins mutiny, I shall have to pack off tomorrow." अर्थात्, यदि सिन्धिया भी विद्रोह में शामिल हो गया तो मुझे भी कल विलायत जाने के लिए अपना सामान बांध देना पड़ेगा। ग्वालियर के ऐसे विषम दुर्ग को विद्रोही नेताओं ने केवल एक दिन की साधारण-सी लड़ाई से जीत लिया।

यह इस बात का सबूत था कि उस समय सामान्य रूप से भारत-वासियों के दिल विद्रोह के साथ थे। जयाजीराव सिन्धिया कायर नहीं था। उसकी सेनाएँ भी कम नहीं थीं। परन्तु जब उसकी अपनी सेनाएँ ही बिगड़ उठीं तो उसकी हिम्मत हार गई। सफलता का सेहरा यहां महारानी के सिर पर ही बंधा। युद्ध के अन्तिम भाग में एक ऐसा समय आया, जब सिन्धिया की तोपों से विद्रोही सेना के पांव उखड़ने लगे। यह देखकर महा-रानी क्षुब्ध हो उठीं और केवल ढाई-तीन सौ सिपाहियों के साथ शत्रु-सेना पर टूट पड़ीं। उनके आक्रमण के वेग से सिन्धिया की सेनायें ऐसी डर गईं कि अपनी तोपें छोड़कर तितर-बितर हो गईं। अब सिन्धिया के पास सिवाय इसके कोई चारा न रहा कि संग्राम-भूमि से हटकर ग्वालियर से भाग निकलता। उसने वही किया। ग्वालियर का अभेद्य समझा जाने वाला किला, वंशपरम्परा से एकत्र किया हुआ अटूट खजाना और सब प्रकार का बढ़िया युद्ध का सामान प्राप्त हो जाने से क्रान्ति के नेताओं की आशाएँ फिर एक बार हरी हो गईं।

क्रान्ति के सब नेताओं पर इस सम्भावित सफलता का एक-सा असर नहीं हुआ। जहां भविष्य में आने वाले संघर्ष का विचार करके महारानी लक्ष्मीबाई किले की सुरक्षा की योजना में लग गईं, वहां राव साहब के मन में यह भावना उठी कि क्यों न विधिपूर्वक राज्याभिषेक करके पेशवा की राजगद्दी पर बैठा जाय? ताँतिया टोपे को भी यह विचार पसन्द आया। तद-नुसार १८५८ की तीसरी जून को ग्वालियर के फूलबाग में धूमधाम से पेशवा का राज्यारोहण सम्पन्न हुआ। उस

प्रसन्नता के अवसर पर कोष का वह पचास लाख रुपया जो युद्ध की तैयारी में खर्च होना चाहिये था, पुरस्कार के रूप में बांटा गया, तोपों की सलामी दी गई, ब्रह्मभोज हुए और अन्त में मुजरों और तमाशों का बाजार गरम हो गया। महारानी इन सब दृश्यों को देखकर दिल ही दिल में जल रही थीं, वह अभिषेक के किसी समारोह में सम्मिलित नहीं हुईं। जब राग-रंग का जोर बहुत बढ़ने लगा तब महारानी ने पेशवा के दरबार में पहुंचकर सब साथियों को कठोर चेतावनी देते हुए आने वाले संकटों के लिये तैयार होने की प्रेरणा की। बहुत से लेखकों ने लिखा है कि वह कठोर चेतावनी भी बहरे कानों पर पड़ी। प्रसन्नतासूचक धूमधाम जारी रही।

उधर अंग्रेजी सरकार की विशाल सेना आंधी की तरह ग्वालियर की ओर बढ़ती आ रही थी। लगातार दस दिन तक कूच करके सर ह्यू रोज का दल ग्वालियर की मुरार छावनी के समीप पहुंच गया। मुरार उस समय विद्रोही सेनाओं के हाथ में था। पेशवा-पद पर आसीन राव साहब और उसके सेनापति तांतिया टोपे का कर्तव्य था कि वे दृढ़ता से मुरार की रक्षा करते। वह ग्वालियर का द्वार था। परन्तु पेशवा तो राज्यारोहण के आमोद-प्रमोद में लगे हुए थे, पहले से कोई तैयार न होने पर ऐन समय पर जागने का कोई फल न निकला। केवल दो घंटों की साधारण-सी लड़ाई करके अंग्रेज सेना ने मुरार पर अधिकार कर लिया। ग्वालियर के युद्ध के पहले दिन महारानी अपने प्रमुख सेनापति राव साहब के आदेश की प्रतीक्षा करती रहीं।

मुरार के हाथ से निकल जाने पर पेशवा की नींद टूटी।

अब उन्हें महारानी की याद आई।

पेशवा की ओर से तांतिया टोपे ने फूलबाग में जाकर महारानी के सामने अपनी पहले दिन की भूल के लिए खेद प्रकट करते हुए दूसरे दिन लड़ाई की कमान संभालने की प्रार्थना की। महारानी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। वह अनुभव कर रही थीं कि ग्वालियर की लड़ाई न केवल उनकी अपितु सारे विद्रोही दल की अन्तिम लड़ाई होगी। यदि वह हार गये तो सब समाप्त हो जायगा और यदि जीत गये तो सम्भव है देश स्वाधीन हो जाय। पेशवा का सन्देश पाकर महारानी उठ खड़ी हुईं, और जी-जान से दूसरे दिन के युद्ध की सज्जा में लग गईं।

१८ जून की लड़ाई में पलड़ा बराबर रहा। अंग्रेजी तोपखाने से महारानी के तोपखाने की और सिपाहियों से सिपाहियों की भिड़न्त जारी रही। उस सारे दल के आगे मर्दाना वेश में अपने सफेद घोड़े पर सवार महारानी तलवार से शत्रुओं का संहार करती हुई सारे रणक्षेत्र में दिखाई देती थीं। वह जिधर निकल जातीं, उधर ही अंग्रेजी फौज में भगदड़ मच जाती। सायंकाल तक मारकाट चलती रही। उस समय दोनों पक्ष ही थक चुके थे। युद्ध रात भर के लिए स्थगित कर दिया गया। महारानी का घोड़ा दिन भर सवारी देकर न केवल थक गया था, वह घायल भी हो गया था। दूसरे दिन के लिए महारानी ने सिन्धिया के अस्तबल से दूसरा घोड़ा मंगा लिया और अपने घोड़े को एक दिन की छुट्टी दे दी। कभी-कभी बहुत छोटी-सी बात बहुत भारी परिणामों का कारण बन जाती है। अगले दिन जो कुछ हुआ, इस घोड़ों के परिवर्तन का

उस पर गहरा असर पड़ा।

अंग्रेज सेनापति इस परिणाम पर पहुंच चुके थे कि सारे विद्रोह की जान रानी लक्ष्मीबाई है। वे देखकर दांतों तले अंगुली दबाते थे कि यह नारी न थकती है, न डरती है और न पीछे हटना जानती है। वह सपनों में उसे 'जोन आफ आर्क' के रूप में देखकर काँप उठते थे। १८ जून को वह इस दृढ़ निश्चय के साथ मैदान में उतरे कि जैसे भी हो रानी का अन्त किया जाय। उन्हें निश्चय हो गया था कि रानी के जीते-जी क्रान्ति को दबाया नहीं जा सकेगा।

महारानी इस बात से अनजान नहीं थीं। वह भी रणक्षेत्र में इस संकल्प के साथ उतरी थीं कि अब अन्तिम निर्णय हो जाना चाहिये। उस दिन भर कुछ विश्वासी सैनिकों के साथ अकेली महारानी अंग्रेजों की सारी सेना के साथ जूझती रहीं। अंग्रेज सेनापतियों ने उन्हें एक क्षण के लिए भी आराम से नहीं बैठने दिया। विद्रोहियों के अन्य नेता तो यह देखकर कि अब जीतना कठिन है, चुपके-से किले से चल दिये थे, सिन्धिया की सेनाएँ रंग बिगड़ता देखकर शत्रुओं से जा मिली थीं। शेष रह गईं महारानी, वह दिन भर सारी अंग्रेजी सेना का रास्ता रोकती रहीं।

जब १९ जून का सूर्य उदित हुआ तो विद्रोही सेना के अन्य नेता और सिपाही तितर-बितर हो चुके थे। केवल एक लक्ष्मीबाई और उसके मुट्ठी भर साथी विजय-मद से मस्त सम्पूर्ण अंग्रेजी-सेना से संग्राम करने के लिए मोर्चे पर रह गये थे। यह देखकर महारानी ने सारी शक्ति एकत्र करके अन्तिम

वार करने का निश्चय किया। उनका संकल्प था कि या तो अंग्रेजी सेना को परास्त कर दूंगी या उनकी पंक्तियों को चीर कर बाहर निकल जाऊंगी। उस अन्तिम युद्ध-प्रयाण में उनके चार भक्त अनुयायी भी थे। दो सखियाँ थीं, जिनके नाम सुन्दर और मुन्दर थे। और दो सेवक थे, जिनके नाम रामचन्द्र-राव और रघुनाथसिंह थे।

महारानी का उस दिन का आक्रमण बड़ा ही भयंकर था। उनकी तलवार बिजली की तरह चलती थी। जिधर पड़ती, रास्ता साफ कर देती। परिणाम यह हुआ कि थोड़ी ही देर में महारानी का छोटा-सा दल शत्रु-सेना की पहली पंक्ति से पार हो गया। महारानी की पीठ पर उस समय भी पुत्र दामोदर राव बंधा हुआ था।

महारानी धनुष से निकले हुए तीर की गति से शत्रु-सेना को पीछे छोड़कर उड़ चलीं। यह देखकर अंग्रेज सेनापति स्तब्ध रह गये। उस समय कमान ब्रिगेडियर स्मिथ के हाथ में थी। उसने तेज घुड़ सवारों की एक टुकड़ी को हुक्म दिया कि महारानी का पीछा करके उसे जीवित या मृत रूप में लेकर आओ।

इसके आगे भाग्य का फेर शुरू हुआ। हां, महारानी आसानी से हाथ आने वाली नहीं थीं, परन्तु दुर्भाग्यवश उनकी सखी सुन्दर कुछ पीछे रह गयी। एक गोरे ने पीछे से उस पर तलवार का वार किया। वह 'हाय बहन मैं मरी' के आर्तनाद के साथ घोड़े से गिर गई। महारानी की गति रुक गई। उसने पीछे मुड़-कर तलवार के एक ही झटके से आततायी गोरे का सिर धड़ से अलग कर दिया, परन्तु इस काम में जो क्षण व्यतीत हुए,

उन्होंने शत्रु को पास आने का अवसर दे दिया।

अब दूसरा संकट उपस्थित हो गया। रास्ते में एक पहाड़ी नाला पड़ता था। यदि महारानी का अपना घोड़ा होता तो वह छलांग लगाकर पार हो जाता, परन्तु सिन्धिया का घोड़ा अशिक्षित था, वह झिझककर खड़ा हो गया। महारानी ने एड़ी पर एड़ी लगाई पर वह टस से मस न हुआ। इतने में शत्रु आ पहुंचे और महारानी को चारों ओर से घेर लिया। उस समय कैसी लड़ाई हुई, और महारानी कैसे घायल हुईं, इसका ठीक-ठीक वृत्तान्त स्वयं वे गोरे सिपाही भी नहीं बतला सके, जो वहां उपस्थित थे। बच्चे का बोझ पीठ पर लादे हुए महारानी बीसियों आक्रमणों का उत्तर दे रही थीं। जहां महारानी घायल हुई, पीछे से देखा गया कि वहां दर्जन से अधिक गोरों की लाशें पड़ी थी। वह चारों ओर से होने वाले वारों का उत्तर दे रही थीं कि एक गोरे ने पीछे से उनके सिर पर तलवार का भरपूर वार किया, जिससे सिर के दो भाग हो गये। बायां भाग आंख के साथ नीचे लटक गया। इतने में एक दूसरे गोरे ने छाती पर किर्च का वार किया।

इतने आघात पाकर बड़े से बड़ा वीर अशक्त हो जाता, परन्तु उस तेजस्विनी ने हाथ से तलवार छोड़ने से पहले चमत्कार कर दिया। तलवार के दो वार किये और दोनों आक्रान्ताओं को काटकर गिरा दिया। इस तरह सब आक्रान्ता काटे गये और मैदान साफ हो गया। महारानी की जीवन-शक्ति समाप्ति पर आ गई थी। अन्त समय समीप आया जान, महारानी ने अपने बचे हुए पांच-छः अनुयायियों को इशारा किया। पास ही एक

झोंपड़ी थी, वे लोग महारानी को उसमें ले गये और नीचे लिटा दिया। अपने दत्तक पुत्र रामचन्द्रराव को सामने रोता देखकर महारानी ने उसे कहा—"खबरदार, मेरी देह को कोई विजातीय स्पर्श न करने पाये !" फिर कुछ रुककर दामोदर राव की ओर इशारा करके आदेश दिया, "अपने जीते जी इसे अपने से दूर न करना।"

इतना बोलने से महारानी का गला सूख गया। कुटिया के मालिक गंगादास ने थोड़ा-सा गंगाजल ला दिया। उसका एक घूट पीकर मानो शान्ति लाभ करके महारानी ने प्राण त्याग दिये। रामचन्द्रराव ने शत्रु-सेना के आने से पूर्व ही चिता बनाकर उनका दाह-संस्कार कर दिया। इस प्रकार रानी लक्ष्मीबाई का भौतिक शरीर भस्मीभूत होकर पृथ्वी में विलीन हो गया परन्तु उनका यशरूपी-शरीर आज भी जीवित है और आगे भी जीवित रहेगा। जैसे भारत की नारी युग-युगान्तरों से सती सीता से पवित्रता और पातिव्रत्य धर्म का सन्देश लेती रही है और भविष्य में भी लेती रहेगी, उसी प्रकार स्वाधीनता के गत संग्राम में, आदर्श वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई से दृढ़ता, निर्भीकता और शूरता का सन्देश प्राप्त करती रही है और विश्वास है कि भविष्य में भी देश या धर्म पर संकट आने पर वह सन्देश उन्हें मिलता रहेगा।

महात्मा गांधी

: ११ :
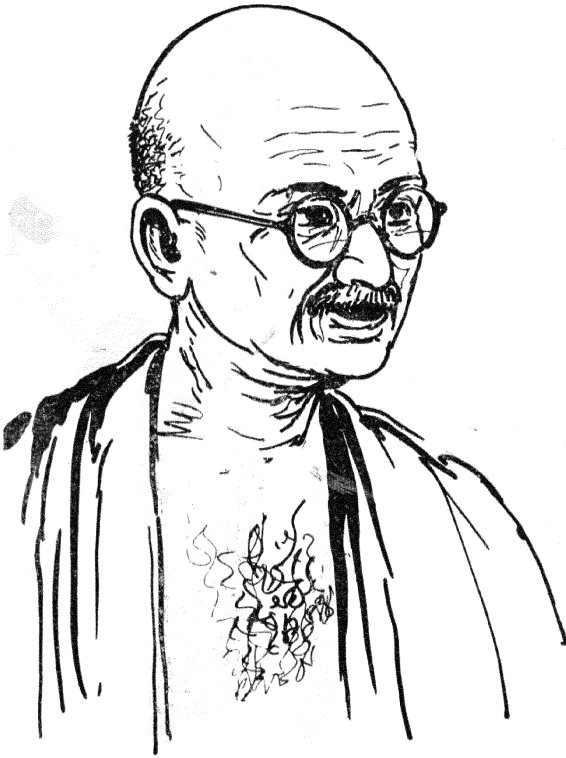
महात्मा गांधी

यूरोप के महान् वैज्ञानिक आइन्सटीन ने महात्मा गांधी के जन्म-दिवस पर संदेश देते हुए कहा था—"संसार की भावी संतति को यह विश्वास नही आएगा कि वह (गांधी) हमारे जैसे शरीर के साथ पृथ्वी पर विचरण करता था।" इसी आश्चर्य की भावना को फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक रोम्याँ रोलां ने इन शब्दों में प्रकट किया है —

"एक छोटा-सा कृशकाय मनुष्य, जिसकी आँखें बड़ी-बड़ी और आगे को निकली हुई है, जिसका शरीर मोटे सफेद कपड़े से ढका हुआ हे और पाँव नंगे है; जो चावल और फलों पर जीवित है और केवल पानी पीता है; जो फर्श पर सोता है, सोता भी बहुत थोड़ा है और निरंतर काम करता रहता है; जो शरीर की रत्ती भर भी परवाह नही करता, जिसमं कोई विशेष ध्यान देने योग्य बात नही है—हाँ, उसका सारा रूप अनन्त धैर्य और अनन्त प्रेम का सूचक है . . .वह बच्चों की तरह सरल है। वह जब विरोधियों का मुकाबला करता है, तब भी विनय और शिष्टाचार को नहीं छोड़ता और वह सच्चाई का तो मानो देहधारी रूप है . . .यह है वह मनुष्य जिसने तीस करोड़ देश-वासियों को विद्रोह के लिए खड़ा कर दिया है, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों को हिला दिया है और जिसने मनुष्यों की राजनीति में गत दो हजार वर्षो की धार्मिक भावनाओं का

प्रवेश करा दिया है।"

यह था चमत्कारी रूप, जिसमें विदेशी विचारक महात्मा गांधी को देखते थे। भारतवासी महात्मा जी के अनुयायी थे, उन्हें पूज्य मानते थे। उनमें पुराने समय के तपस्वी मुनियों का नवावतार देखते थे, परन्तु विदेशी लोगों को वे चमत्कार के सदृश प्रतीत होते थे। इस भेद का कारण यह है कि महात्मा जी को राजनीति जैसे व्यावहारिक क्षेत्र में सफल होते देखकर उन्हें तपस्या, सादगी, सत्य और अहिंसा आदि ऐसे गुणों की प्रधानता माननी पड़ती थी, जिन्हें उन्नीसवीं और बीसवी सदी का पाश्चात्य संसार 'जंगलीपन' का नाम दे चुका था। वे लोग इस सिद्धांत को मानने-करने लगे थे कि उन्नति की दौड़ में वे ही व्यक्ति या समाज आगे रह सकते हैं—जो पुराने सादगी और सत्य के आदर्शों को छोड़कर आवश्यकताओं के बढ़ाने और उपयोगितावाद में विश्वास रखते हों। महात्मा जी के जीवन से उन्हें अपना भौतिक दृष्टिकोण टूटता दीखा, तो वे आश्चर्य अनुभव करने लगे। उन्हें महात्मा जी का व्यक्तित्व चमत्कारपूर्ण जॅचने लगा। ऐसे चमत्कारपूर्ण महान् व्यक्ति की जीवन-कथा आध्यात्मिक और सांसारिक दोनों ही दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसके साधन आध्यात्मिक थे, तो प्रत्यक्ष लक्ष्य सांसारिक। उसमें धर्म और अर्थ, परलोक और इहलोक, आदर्शवाद और यथार्थवाद का ऐसा अद्भुत मिश्रण था कि यदि संसार के विचारकों ने उसे चमत्कार समझा, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

उस चमत्कारी पुरुष का नाम मोहनदास था। उनके पिता

का नाम कर्मचन्द था और गांधी उपजाति-सूचक शब्द था। आप अपने पिता की चौथी तथा अन्तिम संतान थे। उनके पिता पोरबन्दर के प्रतिष्ठित नागरिक थे।

बालक मोहनदास की शिक्षा राजकोट में हुई। उनके शिक्षा-काल की एक घटना विशेषरूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि वह उनके चरित्र की एक विशेषता को सूचित करती है। एक बार एक अंग्रेज इंस्पेक्टर छात्रों की परीक्षा लेने आया। उसने अंग्रेजी के कुछ शब्द लिखाये। मोहनदास ने एक शब्द के हिज्जे ठीक-ठीक याद न होने से अशुद्ध लिख दिये। स्कूल का मास्टर छात्रों के बीच में घूम रहा था। उसने मोहनदास को इशारा किया कि वह सामने वाले लड़के के हिज्जों की नकल कर ले, परन्तु मोहनदास को नकल करना पसन्द नहीं आया। परिणाम यह हुआ कि शेष सब लड़कों ने हिज्जे ठीक लिखे, केवल मोहनदास के ही गलत रहे, जिसके लिए इन्स्पैक्टर के चले जाने पर मास्टर ने उसे बहुत लताड़ा। मास्टर ने मोहनदास को निरा बुद्धू समझा होगा।

तेरहवें वर्ष में कुल की प्रचलित प्रथा के अनुसार आपका विवाह हो गया। पत्नी का नाम कस्तूरबा था। गांधीजी के बड़े भाई लक्ष्मीदास जी राजकोट में वकील थे। वे बहुत चतुर और प्रभावशाली व्यक्ति माने जाते थे। सन् १८८५ में जब गांधीजी की आयु सोलह वर्ष की थी, तब उनके पिता का देहान्त हो गया। उनके पश्चात् लक्ष्मीदास जी मोहन-दास के मार्ग-दर्शक बने। उन्होंने निश्चय किया कि छोटे भाई को विलायत भेज कर बैरिस्टर बनाया जाय ताकि दोनों भाई मिल-

कर खूब पैसा पैदा करें। सन् १८८८ की चौथी सितम्बर को लक्ष्मीदास जी ने अपने छोटे भाई को बम्बई से लंदन के लिए जहाज पर बिठा दिया।

विलायत भेजने से पूर्व गाधीजी की माता पुलतीबाई ने उनसे तीन प्रतिज्ञाएँ ले ली थी। वे प्रतिज्ञाएँ थी——(१) मै शराब नही पीऊँगा, (२) मांस नही खाऊँगा और (३) पर-स्त्री से संग नहीं करूँगा। विलायत जाकर गांधीजी ने अपनी प्रतिज्ञाओं का यथाशक्ति पालन किया। दो-एक बार संग-दोष से प्रतिज्ञा-भंग के रास्ते पर दो-चार कदम गए भी तो हृदय की प्रेरणा ने उन्हें बचा लिया।

विलायत मे गाधी जी पूरे विलायती ढंग से रहते थे। उस समय वे अपने को ब्रिटिश-साम्राज्य का एक वफादार नागरिक मानते थे और उसी के अनुसार कार्य करते थे। बैरिस्ट्री पास करने में तीन वर्ष से कुछ न्यून समय लगा। १८८८ के सितम्बर में आप विलायत गये थे और १८९१ के जून में भारत वापिस आ गए।

भारत आकर गांधीजी वकालत करने लगे, परन्तु उसमें आपको सफलता नही मिली। सफलता न मिलने के दो कारण हुए। अपनी आत्म-कथा में गांधीजी ने बम्बई की अदालत में अपनी एक पेशी की कैफियत बतलाते हुए लिखा है——"खफीफा अदालत की देहली लाँघने का यह पहला ही मौका था। मैं मुद्दालेह की ओर से था। अब मुझे जिरह करनी थी। मैं खड़ा तो हुआ लेकिन पाँव काँप रहे थे, सिर चकरा रहा था। जान पड़ता था, कचहरी घूम रही है। सवाल सूझते ही न थे। जज

हँसा होगा। वकीलों को तो मजा आया ही होगा। पर मेरी आँखें क्या कुछ देख पाती थीं ! मैं बैठ गया। दलाल से बोला—मुझसे तो यह मुकदमा न चल सकेगा। पटेल को कर लीजिये। मुझे दिया हुआ मेहनताना वापिस ले लीजिए।" "......मैं भागा। मुवक्किल जीता या हारा इसकी मुझे याद नहीं।"

उस समय गांधीजी ऐसे संकोच और भय के शिकार होकर भाग निकले—यह जानकर कुछ लोगों को बहुत आश्चर्य होता है। परन्तु आश्चर्य की कोई बात नहीं। जब महात्मा गांधी हाई कोर्ट के चीफ जज और जजों के सामने छाती तानकर निःशंक भाव से खड़े होते थे एवं कठोर से कठोर दण्ड देने की चुनौती देते थे तब वे अपने आदर्शों के लिए लड़ रहे होते थे, परन्तु जब वे खफीफा के जज के सामने से मैदान छोड़कर भाग निकले थे तब उस क्षुद्र वस्तु के लिए खड़े हुए थे जिसका नाम 'पैसा' है और जिससे गांधी जी हार्दिक घृणा करते थे। ऊँचे आदर्शों पर सच्चा विश्वास मनुष्य को वीर और सांसारिक लालसा की दासता उसे कायर बना देती है।

गांधी जी के भीतर विश्वास और उपयोगिता का यह संघर्ष पूर्ण यौवन पर था, तब पोरबंदर के एक मुसलमान व्यापारी ने उन्हें, अपने कानूनी काम से दक्षिण अफ्रीका भेजने का प्रस्ताव करके, इस उलझन से निकाल दिया। उस व्यापारी का कारोबार दक्षिण अफ्रीका में भी था। उसने एक महत्त्वपूर्ण मुकदमे के कागज-पत्र लेकर गांधी जी को अपने खर्चे से दक्षिण अफ्रीका भेजकर मानो भारत के महान् अहिंसक संग्राम की आधार-शिला रख दी।

गांधीजी १८९३ के मई मास में डरबन के बंदरगाह पर उतरे। अब्दुल्ला सेठ, जिनके काम से गांधीजी वहाँ गए, बंदरगाह पर उनसे मिले और अपने घर ले गये।

दक्षिण अफ्रीका पहुँचकर गांधीजी ने वहाँ रहने वाले भारतवासियों की जो दुर्दशा देखी, उससे उनके हृदय पर गहरी चोट पहुँची। वहाँ के गोरे सब हिन्दुस्तानियोंको 'कुली' नाम से पुकारते थे। गांधीजी को उन्होंने 'कुली बैरिस्टर' की उपाधि दी। एक बार जब वे सेठ अब्दुल्ला के साथ अदालत में जाकर बैठे, तो जज उनकी पगड़ी की ओर घूर-घूर कर देखने लगा। यह इस बात का इशारा था कि--"तुम्हें पगड़ी उतारकर अदालत में बैठना चाहिए।" गांधीजी ने पगड़ी उतारने की अपेक्षा अदालत से उठकर चले जाना बेहतर समझा। अगले दिन यह पगड़ी-काण्ड समाचारपत्रों में छप गया और उसकी खूब चर्चा हुई।

अभियोग के काम से गांधीजी को प्रिटोरिया जाना था। उनके लिए पहले दर्जे का टिकट खरीदा गया था। वे गाड़ी में बैठ गए। ट्रांसवाल की राजधानी पेटिसबर्ग में एक गोरा मुसाफिर उस डिब्बे में चढ़ने के लिए आया। एक 'कुली' को वहाँ बैठा देखकर उलटे पाँव वापिस चला गया और रेलवे के दो अधिकारियों को ले आया। उन्होंने गांधीजी को तीसरे दर्जे में चले जाने की आज्ञा दी। गांधीजी ने उतरने से इनकार कर दिया। इस पर पुलिस बुला ली गई और गांधीजी का सामान डिब्बे से बाहर डाल दिया गया। गांधी जी ने तीसरे दर्जे में सफर करने की अपेक्षा, कड़ाके की सर्दी में, रात-भर मुसाफिर-

खाने में पड़ा रहना पसन्द किया। केवल भारतवासी होने के कारण निचली श्रेणी में जाना आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझा।

भारत में और दक्षिण अफ्रीका में राजनीतिक दासता के कारण, भारतवासियों को इस प्रकार के अपमानजनक व्यवहार प्रतिदिन सहने पड़ते थे। सामान्य हृदयों पर वे बहुत हल्की प्रतिक्रिया उत्पन्न करते थे। लोगों को सहने की आदत-सी पड़ गई थी, किन्तु गांधी जी की अन्तरात्मा को वह सह्य नहीं हुई। पग-पग पर उनका हृदय विद्रोह करता था—वह अपमानजनक परिस्थितियों का अंत करने के लिए अकुला उठता था। यह थी भूमिका जिसने गांधी जी के अगले सारे जीवन की बुनियाद रखी।

उन्हीं दिनों नैटाल सरकार ने एक बिल तैयार किया, जिसका उद्देश्य, विधान मंडल के लिए सदस्य चुनने के, भारत-वासियों के अधिकार को छीनना था। इस समाचार ने गांधी जी की विद्रोही भावना को उत्तेजित कर दिया। कानूनी काम समाप्त हो चुका था। गांधी जी भारत वापिस जाने का विचार कर रहे थे कि नैटाल सरकार का बिल समाचारपत्रों में प्रकाशित हो गया। गांधी जी ने देश वापिस जाने का विचार स्थगित करके नैटाल सरकार के अन्यायपूर्ण बिल के विरुद्ध भारतीयों को जाग्रत करने का आन्दोलन आरम्भ कर दिया। बस, यहीं से संसार की पाशविक शक्तियों के विरुद्ध गांधी जी का वह अस्त्र-हीन अद्‌भुत संग्राम आरम्भ हुआ, जो पहले बीस वर्षों तक दक्षिण अफ्रीका में और फिर बत्तीस वर्षों तक भारत की रण-स्थली में लड़ा गया। उस अनूठे संग्राम में भारतवासी, कभी आशा और

कभी निराशा से, परन्तु सदा श्रद्धा और विश्वास से भाग लेते रहे और उसे सारा संसार कभी उदासीनता से तो कभी कौतूहल से देखता एवं मुसकराता रहा। इतिहास के पृष्ठों पर यह बात अमिट अक्षरों में लिखी गई है कि गांधी जी द्वारा संचालित उस संग्राम को दोनों रण-क्षेत्रों में सफलता मिली। जब गांधी जी महात्मा का पद प्राप्त करके सन् १९१५ में दक्षिण अफ्रीका से भारत वापस पहुँचे थे, तब अफ्रीका के शासक अपने राज-हठ को छोड़कर भारतीयों के अधिकारों के बारे में विद्रोही गांधी से समझौता कर चुके थे और जब महात्मा गांधी ने सन् १९४८ में इस लोक से प्रयाण किया, तब अभिमानी ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिधि भारत को स्वतंत्र करके अपने घर वापिस जा चुके थे।

दक्षिण अफ्रीका के निवास के बीस वर्षों में गांधी जी ने जो कार्य किये, उन्हें दो शीर्षकों के अंतर्गत लाया जा सकता है। पहला शीर्षक है—'साधना', एवं दूसरा 'सत्याग्रह का सफल परीक्षण'। उन बीस वर्षों में गांधी जी ने कठोर तप और साधना द्वारा अपने को उस महान् कार्य के लिए तैयार किया, जिसका अंतिम फल भारत की स्वाधीनता के रूप में प्रकट हुआ। वह साधना एकदम पूरी नहीं हुई। गांधी जी ने एक के बाद दूसरा पग उठाते हुए कई वर्षों में अपने को 'सिद्ध' कहलाने का अधिकारी बनाया।

वे कदम क्या थे ?

पहला कदम था—पूरे यूरोपियन वेष को छोड़कर भारतीय वेष को अपनाना। वकालत का पेशा तो छोड़ ही दिया था। रस्किन की 'अन्टू दिस लास्ट' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक पढ़-

कर आपने निश्चय किया कि शहर में रहना छोड़कर ऐसे स्थान पर रहना चाहिए, जहाँ मनुष्य अपने परिश्रम से स्वावलम्बी बनकर रह सके। फिनिक्स में एक फार्म खरीदा और परिवार तथा संगी-साथियों के साथ वहाँ रहकर शारीरिक परिश्रम द्वारा जीवन-निर्वाह करते हुए सार्वजनिक कार्य करने लगे।

कुछ आगे चलकर भोजन की रीति-नीति में सुधार किए। साधारण भोजन छोड़कर कभी सूखे मेवों का और कभी हरी सब्जियों का परीक्षण करने लगे। गाय का दूध सर्वथा छोड़ दिया। लगभग प्राकृतिक चिकित्सा के भोजन को अपना और अपने सहयोगियों का दैनिक भोजन बना लिया। चार बालक होने के पश्चात् गांधी जी ने ब्रह्मचर्य-व्रत पूर्णतया अपना लिया और आजीवन उसे निभाया।

इस प्रकार जीवन को साधना की अग्नि में तपाकर तेजस्वी बनाने के साथ ही साथ आपने अपनी सार्वजनिक कार्य करने की पद्धति को भी दक्षिण अफ्रीका में ही पहले तैयार किया और फिर परिमार्जित किया। आपकी कार्य-पद्धति के कुछ आवश्यक सिद्धांत थे, जिनका विकास दक्षिण अफ्रीका में ही आरम्भ हो गया था। उस कार्य-पद्धति का पहला सिद्धांत यह था कि किसी अन्याय को चुपचाप सिर झुकाकर सहन मत करो। उसको दूर करने के लिए जी-जान से प्रयत्न करो। दूसरा सिद्धांत यह था कि जो प्रयत्न करो उसमें प्रतिहिंसा की, विरोधी को हानि पहुँचाने की भावना न हो, अपितु अन्याय के कारण होने वाले कष्टों को शान्ति-पूर्वक सहकर विरोधी को यह विश्वास दिला दो कि वह भूल पर है। यदि आवश्यक हो तो विरोधी के साथ

सद्व्यवहार या उपकार करके उसके दिल को जीतने का यत्न करो। इस तप का नाम ही महात्मा जी ने सत्याग्रह रखा था।

उपर्युक्त कार्य-पद्धति पर चलने वाले सत्याग्रही साधकों के लिए महात्मा जी ने तीन नियम निर्धारित किए थे—(१) साधक लोग पवित्र एवं सादा जीवन व्यतीत करें, (२) सब प्रकार के धार्मिक तथा साम्प्रदायिक मतभेदों को भुलाकर एक मन होकर कार्य करें और (३) सत्याग्रह-संग्राम आरम्भ हो जाने पर सच्चे सिपाही की भाँति अपने नेताओं की आज्ञा-पालन करें क्योंकि नियंत्रण ही सफलता की कुंजी है।

ये थे महात्मा जी की कार्य-पद्धति के मूल-सिद्धांत। इस पद्धति पर चलने के लिए जिस वीरता और निर्भयता की आवश्यकता थी, महात्माजी ने अपने भीतर उसका विकास कर लिया था और वे चाहते थे कि उनके साथी और अनुयायियों में भी उन गुणों का पूर्ण विकास हो जाय।

महात्माजी की इस सम्पूर्ण तपस्या में उनकी पत्नी प्रातः स्मरणीया कस्तूरबा गांधी उनकी संगिनी रहीं। महात्माजी की आत्म-कथा को पढ़ने से विदित होता है कि व्यक्तिगत साधना के बहुत से अंगों को उनकी बुद्धि स्वीकार नहीं करती थी। परन्तु, हिन्दू स्त्री की नैसर्गिक पति-भक्ति और धर्म-प्रेरणा ऐसी बलवती थी कि कस्तूरबा गांधी आरंभ से अंत तक महात्माजी के रथ का एक पहिया बनकर रहीं। बा ने अपनी सत्ता को गांधी जी की सत्ता में विलीन कर दिया था।

यह तो थी बीस वर्षों की लम्बी साधना। बीस वर्षों में दक्षिण अफ्रीका में महात्माजी ने जो राजनीतिक कार्य किया

उसकी लम्बाई भी कुछ कम नहीं, किन्तु इस संक्षिप्त जीवनी में उसका विस्तार से वर्णन करना संभव नहीं। यहाँ हम केवल उसकी मुख्य-मुख्य घटनाओं का निर्देश मात्र कर सकते हैं।

सन् १८९४-९५ में गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों को जाग्रत करने का गुरुतर कार्य किया। उन्हें, जो अन्याय उन पर हो रहा था, और होने वाला था, उससे सचेत करके संगठित होने का संदेश दिया। सन् १८९६ में आप छः मास के लिए अपनी जन्मभूमि में आये। आने के दो उद्देश्य थे—एक तो अपने परिवार को साथ ले जाकर दक्षिण अफ्रीका को अपना स्थायी कार्य-क्षेत्र बनाना और दूसरा प्रवासियों की स्थिति से देशवासियों को परिचित कराना। पूना में आपने लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और 'सर्वेन्ट्स आव् इंडिया सोसाइटी' के अध्यक्ष पंडित गोपालकृष्ण गोखले के दर्शन किए। मनुष्य स्वभाव से समान प्रकृति की ओर झुकता है। आप जहाँ तिलक की तेजस्विता से प्रभावित हुए वहाँ गोखले के व्यक्तित्व ने आपको अपनी ओर दूसरी तरह आकृष्ट कर लिया। गांधी जी गोखले जी को अपना गुरु मानते थे।

सन् १८९७ में गांधी जी डरबन वापिस पहुँच गए। उस समय एक ऐसा कांड हुआ, जिसने दक्षिण अफ्रीका के गोरे निवासियों का असली रूप संसार पर प्रकट कर दिया। जब गांधी जी जहाज से उतरकर शहर में जा रहे थे, तो कुछ गोरे बच्चों ने उन्हें पहचान कर शोर मचा दिया। गोरों की भीड़ इकट्ठी हो गई और पागल कुत्तों की तरह गांधी जी पर टूट पड़ी। पत्थर, ईंट, और अंडे जो कुछ मिला, उन पर फेंका गया। अंत

में पुलिस आ गई और उस हंगामे में से गांधीजी को निकाल ले गई। इस घटना ने महात्मा जी के हृदय पर विरोधी भाव अंकित किए या नहीं, यह संदिग्ध हो सकता है, परन्तु भारतवासियों ने गोरों का नग्नरूप देख लिया, यह असंदिग्ध है।

इन सब अनुभवों के होते हुए भी गांधीजी ने अपने मन्तव्य के अनुसार गोरों के हृदयों को प्रेम द्वारा जीतने का परीक्षण जारी रखा। जब सन् १८९९ में बोअर-युद्ध जारी हुआ, तो अपने को ब्रिटिश साम्राज्य का एक नागरिक मानकर अपनी सेवायें अंग्रेजी सरकार को अर्पण कर दीं और घायलों की सेवा के लिए लगभग ११०० भारतीयों की एक टुकड़ी तैयार कर ली, जो रण-क्षेत्र में पहुँचकर बराबर घायलों की सेवा करती रही।

युद्ध की समाप्ति पर गांधीजी फिर एक बार भारत आए, परन्तु दक्षिण अफ्रीका के समाचारों ने उन्हें फिर वहाँ लौट जाने पर मजबूर कर दिया। इस बार आप वहाँ जमकर बैठ गए और 'करो या मरो' के दृढ़ संकल्प के साथ राजनीति के रणक्षेत्र में कूद पड़े।

सन् १९०७ में ट्रांसवाल की सरकार ने भारतीयों के विरोध की अणु-मात्र भी परवाह न करके तीर्थ-यात्रियों की रजिस्ट्री का कानून पास कर दिया। गांधी जी के नेतृत्व में भारतीयों ने इस काले कानून का सत्याग्रह द्वारा विरोध किया। उन्होंने रजिस्ट्री कराने से इन्कार कर दिया। इस पर सरकार ने गांधी जी और उनके साथियों को गिरफ्तार करना आरम्भ कर दिया।

सत्य और दमन का यह युद्ध सन् १९१४ तक जारी रहा।

बीच में कई उतार-चढ़ाव हुए। वहाँ के प्रधानमंत्री जनरल स्मट्स ने कई वायदे किए और तोड़े। परिणामतः भारतीयों को कई बार सत्याग्रह करना पड़ा। अंत में, गोरों को सत्याग्रहियों के तप और संसार के लोकमत के सम्मुख झुकना पड़ा। एक समझौता हुआ, जिसने कुछ समय के लिए भारतीयों का सिर ऊंचा कर दिया। भारतीयों के इस पावन प्रयत्न में मि० पोलक आदि कई यूरोपियन सज्जन भी सम्मिलित हो गए थे।

जुलाई सन् १९१४ में अपनी सत्य-साधना का प्रथम पर्व समाप्तकर महात्मा गांधी सपरिवार दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश के लिए विदा हो गए और रास्ते में इंग्लैंड में कुछ समय व्यतीत करके सन् १९१५ के जनवरी मास की ९ तारीख को बम्बई पहुंच गए। डरबन के सत्याग्रहाश्रम के छात्र पहले भारत आ चुके थे। उन छात्रों में गांधी जी के सुपुत्र देवदास गांधी तथा कई अन्य सत्याग्रही बालक भी थे। पहले वे लोग कुछ मास तक गुरुकुल कांगड़ी में रहे, फिर शांति-निकेतन चले गए। महात्मा गांधी, महात्मा मुन्शीराम और कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ से दक्षिण अफ्रीका के निवास-काल में ही परिचित हो चुके थे। वे दोनों महानुभावों में अपने विचारों का आंशिक प्रतिबिंब पाते थे।

महात्माजी भारत में आकर अपने राजनीति के गुरु श्रीयुत गोपालकृष्ण गोखले से मिले। इससे पहले वे सर फिरोज शाह मेहता और श्री लोकमान्य तिलक से भी मिल चुके थे। अपनी आत्म-कथा में गांधी जी ने इन तीनों महापुरुषों की विशेषताओं का बड़ा सुन्दर विश्लेषण किया है। आप लिखते हैं:—

"सर फीरोज शाह मुझे हिमालय जैसे और लोकमान्य समुद्र के समान लगे। गोखले गंगा-से जान पड़े। हिमालय पर चढ़ा नहीं जा सकता। समुद्र में डूबने का डर रहता है, पर गंगा की गोद में तो क्रीड़ा की जा सकती है। उसमें डोंगी खेई जा सकती है।"

अतः क्रियात्मक प्रतिभाशाली इस काठियावाड़ी महापुरुष ने हिमालय और समुद्र को छोड़कर गंगा को गुरु बना लिया। यह सर्वथा स्वाभाविक ही था। गोखलेजी की ओर गांधी जी को आर्कषित करने वाले गुण थे--गोखलेजी की सत्य-प्रियता, त्याग-वृत्ति एवं उच्चतम राजनीतिक प्रतिभा। भारत आने पर गोखलेजी ने गांधीजी को परामर्श दिया कि एकदम राजनीतिक समुद्र में कूदने से पहले देश की दशा का अनुशीलन करना आवश्यक है। गांधीजी ने परामर्श को हृदयंगम कर लिया एवं लगभग चार वर्ष तक राजनीति की मुख्य धारा से अलग रहे। यों उन वर्षों में भी दीन-दुःखियों की पुकार सुनकर, अपने स्वभाव के अनुसार कई जगह सहायता के लिए पहुंचते रहे। सन् १९१७ में आप चम्पारन के नील के व्यापारी गोरों के खेतों में काम करने वाले मजदूरों की दशा देखने गए, तो वहाँ के गोरों और उनकी पृष्ठ-पोषक सरकार के घर में खलबली मच गई। गांधी जी को चंपारन से एकदम चले जाने की आज्ञा दी गई। गांधी जी ने ऐसी अन्यायपूर्ण आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया, तब उन पर मुकदमा चलाया गया। वे अदालत में हाजिर हुए। सारा बिहार जैसे उबल पड़ा--क्रांति की चिनगारी फूट निकली। सरकार को यह अनुभव होने लगा कि जिस मनुष्य से पाला पड़ा है, वह मोम

का नहीं है, फौलाद का है। सरकार झुक गई। एक कमीशन नियत किया गया, जिसने अंत में मजदूरों की माँग को उचित मानकर उन्हें मुआवज़े का रुपया वापिस दिला दिया।

चम्पारन के पश्चात् आपको अहमदाबाद के मिल-मजदूरों ने पुकारा। मजदूरों की शिकायत थी कि उन्हें पैसा कम मिलता है और काम अधिक करना पड़ता है। महात्माजी ने मजदूरों की माँगों का समर्थन किया। पहले तो मिल-मालिक अपनी जिद्द पर अड़े रहे, परन्तु महात्माजी ने अपने ब्रह्मास्त्र 'उपवास' की घोषणा की तो गुजराती मिल-मालिक घबरा गए और उन्होंने पंचफैसले को मानना स्वीकार कर लिया।

इन वर्षो में महात्मा जी ने अपना आश्रम अहमदाबाद के समीप साबरमती नदी के किनारे स्थापित कर लिया था। डरबन से आये हुए छात्र वहीं पहुँच गए थे। महात्मा जी तब से देश में 'साबरमती नदी के संत' के नाम से प्रसिद्ध हो गए।

महात्माजी को राजनीति की मुख्य धारा में डालने का श्रेय रौलट-एक्ट संबंधी आन्दोलन को है। यूरोप का पहला महायुद्ध सन् १९१४ में आरम्भ हुआ और १९१८ के नवम्बर मास में समाप्त हो गया। युद्ध के प्रारंभ होने पर सब मतभेदों और शिकायतों को अलमारी में बंद करके सभी श्रेणियों के भारतवासियों ने अंग्रेजी सरकार की सहायता करने का संकल्प प्रकट किया तथा आचरण भी किया। राष्ट्रीय नेताओं ने जनता को सहयोग की प्रेरणा दी। राजा-महाराजाओं और नवाबों ने धन एवं सेना की भेंट पेश की और साधारण जनता उत्साहपूर्वक सेना में भर्ती होने लगी। देश की इस हार्दिक सहायता से अंग्रेज इतने प्रभावित हुए कि इंग्लैंड के बादशाह से लेकर साधारण लोक-नेताओं ने भारत-

वासियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अनेकानेक सब्ज़ बाग दिखाए। यदि युद्ध और चलता या अंग्रेज जीतने के स्थान पर हार जाते, तो भारत के प्रति इंग्लैंड का क्या व्यवहार होता, यह कहना कठिन है, परन्तु भाग्य की बात, अंग्रेज और उनके साथी जीत गए। मनुष्य की गहराई की परीक्षा हार के समय नहीं जीत के समय मालूम पड़ती है। जीत ने अंग्रेजों के दिमाग बदल दिए, जिसका परिणाम यह हुआ कि इंग्लैंड ने भारत के सामने स्व-राज्य या स्वराज्य की किश्त की जगह 'रौलट बिल' नाम का दमनकारी कानून पेश कर दिया।

'रौलट बिल' को कानून बनने से रोकने के लिए जितने वैध उपाय हो सकते थे सब उपयोग में लाए गए, किन्तु अंग्रेजी सरकार टस से मस नहीं हुई और १८ मार्च, १९१९ को रौलट एक्ट विधान-सभा में स्वीकृत होकर कानून बन गया। विधान सभा में भारतीय सदस्यों ने खूब डटकर विरोध किया। सरकार को गंभीर चेतावनी दी गई परन्तु शक्ति के घमंड में चूर, अंधी सरकार विचलित न हुई; उसने पूर्ण अवहेलना करने का निश्चय कर लिया था।

देश का राजनीतिक जागरण बहुत आगे बढ़ गया था। कांग्रेस के कतिपय अधिवेशनों ने जो जाग्रति का बिगुल बजाया था, उसे सरकार द्वारा किए गए वायदों के भंग ने भीषण नाद करने के लिए उत्तेजित कर दिया और व्यापक अर्थ-संकट तथा बेचैनी के फलस्वरूप आतंकवादियों के कारनामों ने आग में घी का काम किया। देश क्रांति के लिए लगभग तैयार हो चुका था, उसे आव-श्यकता थी केवल अनुकूल अवसर की और उस अवसर से लाभ उठाने की शक्ति रखने वाले नेता की। अवसर दे दिया रौलट

एक्ट ने और नेता दे दिया काठियावाड़ ने। अपने सत्याग्रह के प्रयोग का नुस्खा हाथ में लेकर देश की व्याधि को शांत करने के लिए महातमा गांधी कार्यक्षेत्र में कूद पड़े।

महातमा जी ने अहिंसात्मक सत्याग्रह की रण-भेरी १९१९ के मार्च मास में बजाई। उन्होंने देश को जगाकर क्रांति का श्री-गणेश कर दिया। उस समय जो शांतिमय संग्राम आरम्भ हुआ, उसने कई रूप धारण किए। कभी उतार पर आया,तो कभी चढ़ाव पर पहुंचा। कभी-कभी सर्वथा असफल-सा होता प्रतीत हुआ। परन्तु महात्माजी के अटल एवं प्रबल नेतृत्व में जो संग्राम सन् १९१९ में आरम्भ हुआ वह अट्ठाईस वर्षों तक बराबर चलता रहा और अंत में सन् १९४७ ई० के १५ अगस्त के शुभ दिन स्वाधीनता की प्राप्ति के साथ उसकी समाप्ति हुई।

यह अहिंसात्मक सत्याग्रह कई दशाओं में से होकर गुजरा। प्रारंभ में उसका रूप था—हड़ताल, प्रार्थना और उपवास। कुछ आगे चलकर उसने असहयोग का रूप धारण कर लिया और अंत में सत्याग्रह की सर्वांगीण योजना बनाकर देश भर में व्याप्त हो गया। महात्माजी के उपवास, इस संग्राम के सैनिकों में उत्साह का प्रचंड मंत्र फूंक देते थे। वे इस अहिंसात्मक संग्राम में उनका यथा समय प्रयोग करते रहते थे। यह 'सत्याग्रह-संग्राम' विश्व के लिए एक नई देन थी। समस्त मानव-जाति धर्म के व्यापक सिद्धांतों के इस व्यावहारिक प्रयोग के परीक्षण को बड़ी उत्सुकता एवं आशंका से देख रही थी। गांधीजी तो इसे अपने अभिमत सिद्धांतों की अग्नि-परीक्षा मानते थे। अंत में वे सफल हुए। परि-स्थितियों का सहयोग पाकर महात्माजी का प्रयोग सब प्रकार से

सफल हुआ। भारत को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हुई। मनुष्य-जाति को अन्याय, अत्याचार और बलात्कार पर विजय पाने का नूतन साधन प्राप्त हो गया।

मार्च, १९१९ के अंत में महात्मा गांधी ने देशवासियों को आदेश दिया कि रौलट एक्ट पर असंतोष प्रकट करने के लिए वे ३० मार्च को देश-भर में सब प्रकार का कारोबार बंद करके पूरी हड़ताल करें। उस दिन उपवास रखा जाय और ईश्वर से बल की प्रार्थना की जाय। दिल्ली में ३० मार्च को और देश के अन्य भागों में ६ अप्रैल को हड़ताल मनाई गई। पहले दिल्ली में, फिर पंजाब में,सरकार ने हड़तालको दमन-चक्र से शमन करना चाहा, जिसका परिणाम हुआ——जनता का नियत्रण से बाहर निकल जाना। अनियंत्रित जनता की संगठित पग-ध्वनि से सरकार बहरी हो चली——उसने अपनी रक्षा के लिए लाठियों और गोलियों का खुल-कर प्रयोग किया। पंजाब में सरकार ने जलियाँ वाला बाग-हत्या-कांड और मार्शल-ला के अमानुषी अत्याचारों द्वारा आन्दोलन को दबाना चाहा, किन्तु बर्बर सरकार असफल रही। आजादी के पर-वाने लाठी-गोली से क्यों डरते? डर तो उस अत्याचारी सरकार के हृदय में था, जो अन्याय और उत्पीड़न पर आधारित थी। गांधी जी पंजाब की जनता को शांत करने के लिए बम्बई से चलकर दिल्ली के समीप पहुँच चुके थे, किन्तु उनका आगमन सरकार बर्दाश्त न कर सकी। उसने पलवल के स्टेशन पर महात्मा जी को गिरफ्तार करके वापिस बम्बई भेज दिया। सरकार की इस मूर्खतापूर्ण कार्यवाही ने दिल्ली और पंजाब की जनता में और भी अधिक उत्तेजना उत्पन्न कर दी।

हड़ताल के प्रसंग में अन्य कई स्थानों पर भी उपद्रव हो गए। इस पर महात्मा जी ने यह घोषणा करके कि मुझसे आन्दोलन जारी करने में हिमालय जैसी बड़ी भूल हो गई थी, आन्दोलन को वापिस ले लिया।

सन् १९१९ के अंत में अमृतसर में कांग्रेस का बृहत् अधिवेशन हुआ। उसमें पंजाब में सरकार के प्रतिनिधियों द्वारा किए गये उन अत्याचारों के स्मरण-पत्र पर विचार होने वाला था, जिसे तहकीकात करने वाली सरकारी हण्टर कमीशन और कांग्रेसी तहकीकाती-कमेटी ने दिया था। यह स्मरण-पत्र समाचारपत्रों में प्रकाशित हो चुका था। सरकार ने कांग्रेस के प्रस्तावों को व्यर्थ करने के लिए, अधिवेशन से ठीक पहले सम्राट् के एक घोषणा-पत्र द्वारा भारत को धीरे-धीरे स्वराज्य देने का वायदा कर दिया और अली-बंधु, डाक्टर सत्यपाल और डा० सैफुद्दीन किचलू आदि नेताओं को मुक्त कर दिया। इस राजनीतिक चाल से कांग्रेस का वातावरण कुछ ठंडा पड़ गया। महात्मा गांधी तथा लोकमान्य तिलक के एक मत से वह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया, जिसमें सरकार द्वारा किए गए शासन-सुधारों से सहयोग करने में विश्वास प्रकट किया गया था। परन्तु, यह विश्वास थोड़े ही काल तक अपने अस्तित्व में रहा। सन् १९२० के अप्रैल मास में गांधी जी होमरूल-लीग के अध्यक्ष चुने गए। जून में महात्मा जी के नेतृत्व में खिलाफत कांफ्रेंस ने असहयोग की नीति स्वीकार कर ली। उसी वर्ष १ अगस्त के दिन बम्बई में लोकमान्य तिलक निर्वाण को प्राप्त हुए। अमृतसर कांग्रेस के समय से ही लोकमान्य यह कहने लगे थे कि भविष्य में देश का राजनीतिक नेतृत्व गांधी जी करेंगे। गांधी जी

से नीति-संबंधी मौलिक मतभेद रहते हुए भी लोकमान्य यह अनुभव करते थे कि यदि वह देश को अपने साथ ले जा सकें, तो गांधी जी की नीति देश के लिए कल्याणकारिणी होगी। 'असहयोग' का अभिप्राय था सरकार से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखा जाय। सरकार की नौकरियों का त्याग कर दिया जाय। सरकार की दी हुई उपाधियाँ छोड़ दी जावें। विद्यार्थी सरकारी स्कूलों तथा कालिजों से निकल आयें और वकील वकालत का त्याग कर दें। इसके अतिरिक्त महात्मा जी ने प्रतिदिन कातने और खद्दर पहनने पर जोर दिया। मुसलमानों में खिलाफत के कारण काफी क्षोभ था। उन्होंने असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार स्वराज्य, पंजाब के अत्याचार और खिलाफत—इन तीन स्तम्भों के आधार पर असहयोग का आंदोलन खड़ा हो गया। कुछ समय पीछे इंगलैंड के युवराज के भारत आने पर उसके बहिष्कार को भी चौथे स्तम्भ के स्थान पर 'असहयोग' में सम्मिलित कर लिया गया।

महात्मा जी ने भारत की गरीब जनता के साथ सहानुभूति के रूप में साधारण वेष छोड़कर—लंगोटी, घुटनों तक की एक धोती और ऊपर ओढ़ने की एक चादर तक अपने वेष को परिमित कर लिया।

एक बार तो असहयोग आंदोलन खूब जोर से चला। जनता में वह 'गांधी की आंधी' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। पं० मोतीलाल नेहरू, देशबंधु चितरंजनदास और श्री राजेन्द्रप्रसाद आदि चोटी के भारतवासी वकालत छोड़कर जेलों को भरने के लिए तैयार हो गए।

दिसम्बर, सन् १९२१ को अहमदाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उस समय असहयोग आंदोलन अपनी चरम चोटी पर पहुँचा हुआ था। कांग्रेस का मुख्य प्रस्ताव देश की मनोवृत्ति का चित्र था। उसमें महात्मा जी को कांग्रेस का सर्वाधिकारी बनाकर सत्याग्रह जारी करने का आदेश दे दिया गया। इन्हीं दिनों लार्ड रीडिंग वायसराय बनकर भारत आये और उन्होंने महात्मा जी से मिलकर सुलह का रास्ता निकालने का यत्न किया, परन्तु, क्योंकि अंग्रेज कुछ दिए बिना केवल बातों के आधार पर सुलह करना चाहते थे, महात्मा जी ने सहयोग देने से साफ इंकार कर दिया। सन् १९२२ के फरवरी मास में गुजरात के बारदोली ताल्लुके में सविनय कानून-भंग के रूप में सत्याग्रह करने का निश्चय किया। सत्याग्रह छिड़ने वाला ही था कि एक दुर्घटना घट गई। चौराचोरी में जनता से पुलिस का संघर्ष हो गया जिसमें पुलिस के कई सिपाही मारे गये। महात्मा जी को इस समाचार ने इतना दुःखित और विचलित कर दिया कि उन्होंने बारदोली में कार्यकारिणी का अधिवेशन बुलाकर सत्याग्रह के स्थगित करने की घोषणा कर दी।

सरकार ने परिस्थिति से पूरा लाभ उठाया। अभी तक वह महात्मा जी को हाथ लगाने से डरती थी। सत्याग्रह के स्थगित होने से देश में जो शिथिलता आई, उससे उत्साहित होकर सरकार ने महात्मा जी को गिरफ्तार कर लिया। जो अभियोग चला, वह अपने ढंग का निराला था। महात्मा जी ने न कोई वकील किया और न गवाह पेश किया। केवल एक वक्तव्य दिया, जिसमें अपने राज-भक्त से राज-द्रोही बनने के कारणों का इतिहास बतलाते हुए

सरकार द्वारा लगाये गए आरोपों को स्वीकार कर लिया और अंत में जज से कहा कि "आपको चाहिए कि मुझे कठोर-से-कठोर दण्ड दें।" जज ने सजा सुनाते हुए जो वाक्य कहे, वे भी स्मरणीय हैं। उसने कहा:—

"इस अवसर पर न्यायोचित सजा का निश्चय करना इतना कठिन है जितना इस देश के जज के सामने शायद ही कभी आया हो। कानून व्यक्तियों की परवाह नहीं करता, फिर भी इस बात से इंकार करना असंभव है कि जितने व्यक्तियों के मुकदमे मुझे अब तक करने पड़े हैं, या करने पड़ेंगे उन सबसे आपका मुकदमा भिन्न है—आपकी श्रेणी अद्वितीय है। इस तथ्य से भी इंकार करना असंभव है कि अपने करोड़ों देशवासियों की निगाह में आप एक महान् देशभक्त और महान् नेता हैं।"

जज ने तिलक महाराज के अभियोग की चर्चा करते हुए गांधी जी को छः वर्ष की कैद का दण्ड दिया और कहा कि "यदि सरकार बाद में इस दण्ड को घटाना उचित समझे, तो मुझसे अधिक प्रसन्न कोई न होगा।"

महात्मा जी यरवदा जेल में बंद कर दिये गए। उसके पश्चात् की घटनाओं को यहाँ विस्तार से देना संभव नहीं है—उनका निर्देश-मात्र ही पर्याप्त है, क्योंकि वे स्वाधीनता-प्राप्त्यर्थ सत्याग्रह-संग्राम-रूपी शृंखला की ही भिन्न-भिन्न कड़ियाँ थीं। उनका महत्त्व इतना पृथक् नहीं जितना सामूहिक है।

२० मार्च, १९२२ को महात्मा जी जेल भेजे गए और १२ जनवरी, १९२४ के दिन 'अपेण्डिसाइटस' के आपरेशन के लिए अस्पताल में भेज दिए गये। वहाँ से सफल आपरेशन के पश्चात्

छोड़ दिए गए। मुक्त होकर आप कुछ समय तक स्वास्थ्य-सुधार की दृष्टि से बंबई के जुहू नामक स्थान पर रहे। वहाँ विश्राम करते हुए आपने देश की दशा पर दृष्टिपात किया, तो उसमें दो वर्ष पूर्व की अपेक्षा दो बड़े परिवर्तन दिखाई दिए। १९२२ के अंत में गया कांग्रेस के अवसर पर पं० मोतीलाल नेहरू और देश-बंधु चितरंजनदास ने असहयोग के विधान-सभा संबंधी निश्चय की उपेक्षा करके विधान-सभाओं में प्रवेश करके सरकार से लड़ने के लिए स्वराज्य पार्टी की स्थापना कर ली थी। राजनीतिक परिस्थिति में यह पहला परिवर्तन था। दूसरा परिवर्तन यह दिखाई दिया कि देश के मलाबार, मुल्तान आदि स्थानों पर भयानक साम्प्रदायिक दंगे हो गए थे, जिनमें न केवल मंदिरों के तोड़ने, हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बनाने एवं दूसरी मार-काट की अमानुषी घटनाएँ घटित हुईं बल्कि हिन्दू स्त्रियों का अपहरण किया गया—इन उपद्रवों के कारण राष्ट्र की वह एकता जिसके आधारपर असहयोग औरसत्याग्रह के आन्दोलन खड़े थे, जर्जरित-सी हो रही थी। महात्माजी ने इन दोनों के उपाय अलग-अलग किए : स्वराज्य पार्टी के कार्यक्रम को समझौते के रूप में अपना लिया और साम्प्रदायिक उपद्रवों को रोकने के लिए दिल्ली जाकर जान की बाजी लगा दी। आपने इक्कीस दिन का उपवास किया, जिससे प्रभावित होकर देश के नेता एक सम्मेलन के रूप में एक-त्रित हुए और महात्मा जी को आश्वासन दिलाया कि भविष्य में वे उपद्रवों को रोकने का प्रयत्न करेंगे।

घटना-चक्र चलता गया। १९२५ की कांग्रेस में महात्मा जी अध्यक्ष-पद पर विराजमान हुए। कांग्रेस के वेताज बादशाह तो वे

लगभग २८ वर्षों तक रहे—इस बार ताज भी उनके सिर पर रखा गया। वह वर्ष महात्मा जी ने देश को जागृत करने में व्यतीत किया। रात और दिन परिश्रम करने से अंत में थकान हो गई, जिसे दूर करने के लिए आपने नवम्बर मास में सात दिन का उपवास किया।

इसके पश्चात् कांग्रेस का अधिवेशन कानपुर में हुआ। वहाँ महात्मा जी ने कांग्रेस की बागडोर भारत-कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू के हाथों में सौंप दी और स्वयं फिर कांग्रेस के बेताज बादशाह बन गए। सन् १९२६ में नये विधान के अनुसार धारा-सभाओं के जो चुनाव हुए, उनमें कांग्रेसजनों ने स्वराज्य पार्टी के तत्त्वाधान में भाग लिया। कांग्रेसी यह संकल्प करके धारा सभाओं में प्रविष्ट हुए कि वे गढ़ के भीतर जाकर सरकार की शक्ति को नष्ट करेंगे। महात्मा जी ने सिद्धान्त-रूप में स्वराज्य दल की नीति से सहमत न होते हुए भी व्यावहारिक-रूप में स्वराज्य दल को अपना आशीर्वाद प्रदान किया।

१९२६ के अंत में कांग्रेस का अधिवेशन गौहाटी में हुआ। उसमें महात्मा जी के लैफ्टीनेंट की हैसियत से मौलाना मुहम्मद अली अध्यक्ष बनाए गए। महात्मा जी उस अधिवेशन में सलाहकार के तौर पर सम्मिलित हुए। उन वर्षों में उन्होंने कांग्रेस के नीति-निर्धारण का सीधा उत्तरदायित्व छोड़-सा दिया था—उन्होंने अपने कार्यक्रम में अन्य रचनात्मक कार्यों को प्रमुखता दे रखी थी। हिन्दू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता-निवारण एवं खादी-प्रचार को प्रोत्साहित करने में ही जुट-से गए थे। वे सीधी राजनीति से लगभग पृथक्-से रहने लगे थे। राजनीति से पृथक्

रहने का यह अभिप्राय नहीं था कि महात्माजी विश्राम करते रहे। यह समय उन्होंने उपर्युक्त योजना-क्रमों में लगाया। हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने में उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। यह उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था। आपने कहा था, "मैं निरुपाय हो गया हूं, मैं इससे हाथ धो बैठा हूं।"

१९२७ के नवम्बर मास में भारत की राजनीति का नया दौर आरम्भ हुआ। सरकार महात्माजी को अधूरे सुधारों से संतुष्ट करके राजनीतिक गुत्थी को सुलझाने का यत्न करने लगी। परन्तु महात्माजी झांसे में न आकर स्वराज्यप्राप्ति के लिए शांतिमय संग्राम की ज्वाला को नए-नए रूपों में अधिकाधिक प्रज्वलित करते गए। इस संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त में उस संघर्ष की मुख्य-मुख्य घटनाओं का निर्देश ही किया जा सकता है। उन्हें हम भारत की स्वराज्य-यात्रा के पड़ाव कह सकते हैं।

महात्माजी के राजनैतिक मौन को नए वाइसराय लार्ड इर्विन ने तोड़ा। १९२७ के नवम्बर मास में वाइसराय का बुलावा उस समय पहुंचा जब वे मंगलूर में विश्राम कर रहे थे। महात्मा जी नई दिल्ली पहुंचे तो वाइसराय ने उन्हें 'साइमन कमीशन' की नियुक्ति का समाचार दिया। महात्माजी को उससे संतोष नहीं हुआ। फलत: साइमन कमीशन के भारत-आगमन पर उसकी सभी बड़े-बड़े नगरों में 'साइमन वापिस जाओ' के नारों तथा काले झंडों से अगवानी की गई। राष्ट्रीय विचारों के मनुष्यों ने कमीशन के सामने गवाही देना स्वीकार नहीं किया।

साइमन कमीशन की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई वह और भी अधिक निराशाजनक थी। तब महात्माजी ने कई वर्ष पूर्व स्थ-

गित किए हुए बारदोली-सत्याग्रह को चलाने की अनुमति दे दी। उस सत्याग्रह का संचालन किया--सरदार वल्लभभाई पटेल ने। हम कह सकते हैं कि उस सत्याग्रह को सरदार पटेल के कुशल नेतृत्व में पूरी सफलता मिली। इसी सत्याग्रह की सफलता ने सरदार के यश और प्रभाव में अपिरिमेय वृद्धि कर दी। वहीं उनको बारदोली के सरदार की उपाधि मिली।

१९२९ के अंत में लार्ड इरविन ने घोषणा की कि भारत के भावी संविधान का निश्चय करने के लिए लंदन में गोलमेज कान्फ्रेन्स की जायगी, जिसमें भारत के सभी दलों के प्रतिनिधि भाग ले सकेंगे। कांग्रेस ने महात्माजी को अपना एकमात्र प्रतिनिधि चुनकर लंदन भेजा। इधर १९२९ के दिसम्बर मास में अंतिम रात के बारह बजे रावी के तट पर पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस ने यह घोषणा कर दी कि उसका लक्ष्य भारत के लिए पूरी स्वाधीनता प्राप्त करना है।

महात्माजी स्वाधीनता प्राप्त करने का एकमात्र उपाय सत्याग्रह को मानते थे। सत्याग्रह-संग्राम का नियम है कि पहले शत्रु को सूचना दे दी जाय तब हमला किया जाय। महात्माजी ने एक शांतिप्रेमी अंग्रेज मित्र के हाथ अपने विचार की सूचना वाइसराय के पास भेज दी। वाइसराय ने स्वयं उसका कोई उत्तर नहीं दिया, तब महात्माजी ने नमक-सत्याग्रह जारी करने का निश्चय करके देश को उसके लिए उद्यत होने की सूचना दे दी।

१२ मार्च, १९३० को महात्माजी ने वह अद्भुत चढ़ाई आरम्भ की, जो दांडी-यात्रा के नाम से प्रसिद्ध है। आपने अपने ७८ अनुयायियों के साथ साबरमती आश्रम से समुद्र तट की ओर

पैदल प्रस्थान कर दिया। आपका लक्ष्य समुद्र तट पर पहुंचकर स्वेच्छा से नमक बनाकर नमक-कानून को भंग करना था। वह यात्रा क्या थी, देश के लिए क्रांति का एक सात्त्विक संदेश था। उसने देश भर में जोश की एक प्रचण्ड ज्वाला प्रदीप्त कर दी।

लगभग डेढ़ मास तक सरकार ने इस यात्रा को चलने दिया। संभवत: उसका विचार था कि अंत में किसी न किसी दिन यात्री थकेंगे ही। परन्तु उनके थकने के स्थान पर नमक सत्याग्रह की आग देश भर में फैल गई। तब सरकार ने ४ मई को महात्माजी को नजरबंद करने के लिए गिरफ्तार कर लिया।

महात्माजी नजरबंद हो गए परन्तु देश में आन्दोलन ढीला न हुआ, तब सरकार ने फिर करवट बदली और लंदन में गोल-मेज कान्फ्रेन्स का नाटक रचा गया। इस कान्फ्रेन्स की पहली बैठक १९३० के नवम्बर मास में हुई। उसमें कांग्रेस का कोई प्रतिनिधि उपस्थित नहीं था। फलत: परिणाम कुछ भी न निकला। तब १९३१ के आरंभ में सरकार ने महात्माजी तथा कांग्रेस के अन्य नेताओं को जेल से मुक्त करके कांग्रेस को कान्फ्रेन्स में आमंत्रित किया। कांग्रेस ने निश्चय किया कि एकमात्र महात्माजी ही कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में कान्फ्रेन्स में सम्मिलित हों।

महात्माजी की वह विलायत-यात्रा अपने ढंग की अनूठी थी। गोलमेज कान्फ्रेन्स में उपस्थिति तो महात्माजी के लिए गौण हो गई थी। मुख्य बात तो यह हुई कि महात्माजी ने कई वर्षों के पश्चात् यूरोप को, और यूरोप ने महात्माजी को नये दृष्टिकोण से देखा। महात्माजी ने जिन लोगों से भेंट की, उनमें इंगलैंड के राज-दम्पति और इटली के मुसोलिनी जैसे शासक भी थे, और रोम्यां

रोलां एवं बर्नार्ड शा जैसे साहित्यिक महापुरुष भी। वे यूरोप के गरीब वर्ग के संपर्क में भी आये और आक्सफोर्ड के घुटे हुए विद्वानों से भी मिले। उनसे तो महात्माजी के बहुत लम्बे प्रश्नोत्तर भी हुए। इस सम्पूर्ण मेल-जोल में महात्माजी अपने उसी फकीरी वेष में रहे जो भारत में पहनते थे। उनके तापस वेष में पश्चिम के लोगों ने भारत की जाग्रत प्रशान्त आत्मा को देखा तो उन्होंने मुसोलिनी जैसे शासकों के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित निवास-स्थानों में पश्चिम की अशांत आत्मा की झलक देखी।

गोलमेज कान्फ्रेन्स में महात्माजी ने जो भाग लिया, उसका वर्णन उन्होंने विलायत से लौटकर इन शब्दों में किया था––"मैं खाली हाथ लौटा हूं, परन्तु मैंने अपने देश की इज़्ज़त पर बट्टा नहीं लगने दिया।"

कान्फ्रेन्स क्या थी––भानुमती का पिटारा था। सरकार ने भिन्न-भिन्न विचारों के लोगों को इकट्ठा करके संसार के सामने भारत की फूट का दृश्य उपस्थित करने का यत्न किया था। भिन्न-भिन्न संप्रदायों के लोग विशेष अधिकारों के लिए लड़ रहे थे और अंग्रेजी सरकार बिल्लियों में बन्दर बनकर मुस्करा रही थी। ऐसे वातावरण में महात्माजी अटल रहे। वे विशेष मताधिकारों के विरोध और शासन के पूरे अधिकारों की मांग पर दृढ़ बने रहे। परिणाम यह हुआ कि दूसरी गोलमेज कान्फ्रेन्स भी बांझ ही सिद्ध हुई।

महात्माजी ने अपने देश में आकर पुनः अहिंसात्मक संग्राम का बिगुल बजा दिया। यह संघर्ष लम्बा चला। अपने नियम के अनुसार महात्माजी ने पहले वाइसराय से मिलने के लिए समय

मांगा। वाइसराय ने इंकार किया; इस पर महात्माजी ने उसे सूचना दे दी कि "अब मुझे सविनय कानून भंग का आंदोलन चालू करना पड़ेगा।" इस सूचना का उत्तर सरकार ने गांधीजी की गिरफ्तारी से दिया। वे यरवदा जेल में बंद कर दिये गए। देश पर महात्माजी की गिरफ्तारी का जो असर हुआ, उससे सरकार चकित हो गई। देश भर में सविनय कानून भंग का आंदोलन पानी में तेल की तरह फैल गया। देशभक्त पुरुष, स्त्री और बच्चे मानो एक-दूसरे से होड़ लगाकर कानून भंग करके जेलों में जाने लगे।

इसी वर्ष सितम्बर, १९३२ में अंग्रेजी सरकार की हठधर्मी ने महात्मा जी को अपने प्राणों की बाजी लगाने के लिए बाधित कर दिया। १७ अगस्त, १९३२ के दिन इंगलैंड के मजदूर दल के नेता, प्रधान मंत्री रैम्से मैक्डोनाल्ड ने भारत की साम्प्रदायिक समस्या पर अपने फैसले में अछूतों को मुसलमानों की भांति अलग निर्वाचन का अधिकार देने की घोषणा की। उसका अभिप्राय यह था कि अछूत सदा के लिए हिन्दुओं से पृथक् हो जाएं। महात्माजी ने जब जेल में यह फैसला पढ़ा तो उनकी आत्मा व्याकुल हो उठी और उन्होंने प्रधान मंत्री के फैसले के विरुद्ध २० सितम्बर के दिन आमरण अनशन आरम्भ कर दिया।

उपवास के समाचार ने न केवल भारत में, अपितु इंगलैंड में भी असाधारण हलचल पैदा कर दी। देश के भिन्न-भिन्न मतों के नेता यरवदा में एकत्र होने लगे। पहले तो कुछ समय तक अंग्रेजी सरकार अपनी बात पर अड़ी रही परन्तु जब अछूत जातियों के नेता और महात्माजी एक निश्चय पर पहुंच गए तो सरकार को वह निश्चय मान लेना पड़ा। अछूत लोग हिन्दू जाति के

अंग बने रहे। संतुष्ट होकर महात्माजी ने सात दिन के उपवास के पश्चात् सोमवार को देवी कस्तूरबा के हाथ से नारंगी का रस लेकर अपने आमरण उपवास को तोड़ दिया।

अछूतों की समस्या के वैधानिक पहलू से निबटकर महात्माजी ने अपना सारा ध्यान उस समस्या के सामाजिक पहलू पर लगाने का निश्चय किया। उन्होंने 'यंग इंडिया' का नाम बदल कर 'हरिजन सेवक' रख दिया। 'हरिजन सेवक संघ' का संगठन भी उन्होंने इसी समय किया।

१९३३ के मई मास में महात्माजी ने आत्मशुद्धि के लिए फिर २१ दिन का उपवास किया। गांधीजी पहले उपवास से बहुत निर्बल हो चुके थे। दूसरे उपवास से उनके जीवन पर संकट आ सकता था—इस कारण सरकार ने उपवास के पहले ही दिन उन्हें जेल से मुक्त कर दिया। स्वाधीन होकर महात्माजी हरिजनों के कष्ट-निवारण और दरिद्र-नारायण की सेवा में लग गए।

लगभग छः वर्ष महात्माजी ने राष्ट्र को स्वाधीनता के युद्ध के लिए तैयार करने में व्यतीत किए। १९३९ के सितम्बर मास में यूरोप का दूसरा महायुद्ध आरम्भ हो गया, जिसने कुछसमय के लिए भारत की राजनीति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अंग बना दिया। ३ सितम्बर को इंगलैंड भी युद्ध में कूद पड़ा और भारतवासियों से किसी प्रकार का परामर्श किए विना ही अपनी इच्छा से भारत को भी युद्ध की अग्नि में घसीट ले गया। महात्माजी की युद्ध के प्रति पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि उन्होंने युद्ध की कार्यवाहियों के प्रति तटस्थ रहने की घोषणा की। उन्होंने यह भी कहा कि वह किसी आन्दोलन द्वारा संकट के समय ब्रिटेन

की उलझन को बढ़ायेंगे नहीं। यूरोप का दूसरा महायुद्ध लगभग छः वर्षों तक रहा। इन वर्षों में भारत के राजनीतिक रंगमंच पर कई पर्दे पड़े और उठे। कुछ समय तक सन्नाटा रहा। सरकार की सारी शक्ति युद्ध में विजय प्राप्त करने में लग गई। १९४१ में एक वर्ष तक महात्माजी ने अपनी शान्तिमयी तलवार म्यान में डाल ली थी। वर्ष के अन्त में जापान के युद्ध में कूद पड़ने से स्थिति गम्भीर हो गई। युद्ध की लहरें भारतीय सीमा पर टकराने लगीं। सरकार के लिए भारत में शांति रखना अनिवार्य हो गया। उधर इंगलैंड के प्रधान मंत्री चर्चिल पर अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट का जोर पड़ रहा था कि भारत को शीघ्र ही उत्तरदायी शासन देकर युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए सन्नद्ध हो जाओ। सुलह का रास्ता ढूंढ़ने के लिए, इंगलैंड की सरकार ने सन् १९४२ के आरंभ में सर स्टैफर्ड क्रिप्स को एक ऐसी योजना देकर भारत भेजा, जिसका आधार भारत को हिन्दुओं और मुसलमानों में बांटकर साम्राज्य के अंतर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य देना था। क्रिप्स ने भारत में आकर बहुत प्रयत्न किया कि वे भारतीयों को अपनी अद्भुत योजना पर रजामंद कर लें। श्री राजगोपालाचार्य आदि कुछ नेता मानने को उद्यत भी हो गए परन्तु गांधीजी और कांग्रेस के अन्य प्रमुख नेताओं ने उस योजना को सर्वथा अस्वीकार्य एवं अग्राह्य समझा, जिससे निराश होकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स को अपना-सा मुंह लेकर वापिस लौटना पड़ा।

इंगलैंड की सरकार क्रिप्स योजना से आगे जाने को उद्यत नहीं थी और भारत स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए उतावला हो उठा था, फलतः राजनीतिक वातावरण का तापमान बहुत ऊंचा चला

गया। वह स्थूल रूप में तब प्रकट हुआ, जब १९४२ के अगस्त मास में बम्बई में कांग्रेस महासमिति का अधिवेशन हुआ। उस अधिवेशन में महात्मा गांधी के प्रस्ताव पर यह घोषणा की गई कि अब समय आ गया है कि अंग्रेज भारत से चले जाएं। यह प्रस्ताव भारतीय इतिहास में 'क्विट इंडिया' या 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के नाम से प्रख्यात हुआ।

'भारत छोड़ो' की ललकार का उत्तर सरकार ने जिस आतुरता से दिया, भारत की विक्षुब्ध जनता की ओर से सरकार के उत्तर की प्रतिक्रिया भी उतनी ही आतुरता से हुई। महासभा में प्रस्ताव स्वीकार होने के कुछ घंटों के पश्चात् ही पुलिस ने गांधीजी, नेहरूजी, मौलाना आजाद और सरदार पटेल आदि प्रमुख नेताओं को सोते से जगाकर गिरफ्तार कर लिया। महात्माजी पूना के आगाखां महल में नजरबंद कर दिए गए और अन्य नेताओं को दूसरी जेलों में कारावद्ध कर दिया गया।

नेताओं की अचानक गिरफ्तारी से देश पर बहुत गहरा और व्यापक असर पड़ा। क्रोध और प्रतिहिंसा की जिस वृत्ति को गांधी जी ने तथा अन्य नेताओं ने रोक रखा था—वह रुके हुए ज्वालामुखी की भांति एकदम फूट पड़ी। देश के भिन्न-भिन्न केन्द्रों मे मारकाट और आग की सैकड़ों भयानक घटनाएं हुईं, जिन्हें दबाने के लिए सरकार की ओर से धड़ाधड़ गिरफ्तारियां की गईं, गोलियां चलाई गईं और कई बस्तियों पर हवाई जहाजों से बम भी बरसाये गए। जिस आतंकवाद को महात्माजी ने निरंतर प्रचार द्वारा बड़े प्रयत्न से दबा दिया था, वह बरसाती बाढ़ के पानी की तरह देश में चारों ओर फैल गया।

महात्माजी को इस बार के कारावास में कई असह्य आघात पहुंचे। पहला आघात देश में हिंसात्मक आन्दोलन के जाग्रत होने से पहुंचा। सरकार के अत्याचारों ने उनके दुःख को सौ गुना कर दिया। आत्मा की ज्वाला को शांत करने के लिए उन्होंने १० फरवरी को लम्बे उपवास का अनुष्ठान किया, जो २ मार्च को समाप्त हुआ। दूसरा आघात सबसे प्रिय और अंतरंग शिष्य महादेवभाई देसाई की मृत्यु का पहुंचा। उनका देहान्त हृदय-गति के रुक जाने से हुआ। तीसरी चोट उन सबसे भारी थी। फरवरी मास में गांधीजी की जीवन-संगिनी आदर्श पतिव्रता साध्वी कस्तूरबा का प्राणान्त हो गया। उस समय सती का सिर अपने पति की गोद में था। अपने जीवन-साथी के वियोग पर महात्मा जी ने कहा था—'बा के बिना जीवन की मैं कल्पना नहीं कर सकता। उसकी मृत्यु से जो जगह खाली हुई है, वह कभी नहीं भरेगी। हम दोनों बासठ वर्ष तक साथ रहे...और वह मेरी गोद में मरी, इससे अच्छा क्या हो सकता है... मैं बेहद खुश हूं।"

इन शब्दों के साथ महात्माजी की आंखों से आंसू ढुलक पड़े। डेढ़ मास पीछे उन पर मलेरिया का प्रकोप हुआ, जिससे उनका रक्तचाप बढ़ गया और जीवन संकटग्रस्त हो गया। उस समय देश भर में चिंता के कारण हाहाकार व्याप्त हो गया। जब सर तेजबहादुर सप्रू और मि० जयकर ने वाइसराय से मिलकर ऊंच-नीच समझाया तब सरकार ने महात्माजी को जेल से मुक्त कर दिया।

महात्मा गांधी जीवन भर में सब मिलाकर २०८९ दिन भारत की जेलों में और २४९ दिन दक्षिण अफ्रीका की जेलों में

रहे। महात्माजी अंतिम बार जेल से १९४४ में रिहा हुए।

स्वतंत्र हो कर महातमाजी को देश की कई गंभीर समस्याओं के हल करने में जुट जाना पड़ा। सबसे बड़ी समस्या हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्धों की थी। स्वराज्य की मांग के रास्ते में यह समस्या पहाड़ बनकर खड़ी हुई थी। वह मि० मुहम्मद अली जिन्ना जो कभी कांग्रेसी होने का दावा करता था, धीरे-धीरे उस स्थान से फिसलता-फिसलता मुस्लिम लीग का नेता बनकर, भारत को पाकिस्तान और हिन्दुस्तान इन दो भागों में बांटने पर ज़ोर दे रहा था। महात्माजी राष्ट्र की एकता में विश्वास रखते थे, इस कारण विभाजन के कट्टर विरोधी थे। १९४४ के जुलाई मास में महात्माजी ने जिन्ना से पत्र-व्यवहार आरम्भ किया, जो परस्पर लम्बी बातचीत के रूप में परिणत होकर देश भर की चर्चा का विषय बन गया। महात्माजी स्वयं कई बार जिन्ना की कोठी पर गये परन्तु मि० जिन्ना टस से मस न हुए। आश्चर्य की बात यह थी कि जिस मि० जिन्ना ने संभवत: जन्म भर में पांच बार भी नमाज नहीं पढ़ी थी, वही मजहब के आधार पर अलग राज्य की मांग कर रहा था और गांधीजी, जिनका सारा जीवन धर्म के सांचे में ढला हुआ था, एक राष्ट्रीयता के आधार पर धर्म-निरपेक्ष राज्य की मांग कर रहे थे। केवल भारत ही नहीं, सारा सभ्य संसार इस दृश्य को देखकर आश्चर्य-चकित हो रहा था।

उधर इंगलैंड के राज्याधिकारी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति और देश के बढ़ते हुए विक्षोभ को देखकर इस परिणाम पर पहुंच चुके थे कि अब भारत को स्वाधीन शासन का अधिकार देना

होगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने लार्ड वेवल को भारत का वाइसराय बनाकर भेजा। लार्ड वेवल ने स्वराज्य का कोई सर्वसम्मत फार्मूला निकालने के लिए सब विचारों के नताओं का एक सम्मेलन बुलाया। उसमें सम्मिलित होकर महात्माजी ने भरसक यत्न किया कि किसी योजना पर सबका एकमत हो जाय परन्तु मि० जिन्ना की हठधर्मी ने सारे प्रयत्न विफल कर दिए।

इंगलैंड की सरकार और आगे बढ़ी। उसने सन् १९४६ के मार्च मास में भारत की उलझन को सुलझाने के लिए एक कैबिनेट मिशन भारत भेजा, जिसने दो महीने की छानबीन के बाद मई मास में अपनी योजना प्रकाशित की। उस योजना में भारत के विभाजन का विरोध किया गया था। इसको स्वीकार कर लेने पर मि० जिन्ना की पाकिस्तान बनाने की मांग काफूर हो जाती थी। अतः उनके अनुयायियों ने भयानक साम्प्रदायिक दंगों का तांता लगा दिया। इसी समुद्रमंथन के मध्य लार्ड वेवल ने एक अस्थायी सम्मिलित मंत्रि-मंडल की घोषणा कर दी, जिसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग के सदस्यों की संख्या बराबर-बराबर थी।

इधर शिमले में अस्थायी सरकार का ताना-बाना बुना जा रहा था और उधर बंगाल के नोआखली इलाके में मि० जिन्ना की घातक साम्प्रदायिक नीति अपना रंग दिखा रही थी। लार्ड वेवल के सम्मिलित मंत्रिमंडल बनाने के प्रस्ताव का विरोध करने के लिए विभाजन के पक्षपाती मुस्लिम लीगियों ने १६ अगस्त को देश भर में 'सीधी कार्यवाही' का दिन मनाया। २४ अगस्त को नए मंत्रिमंडल में सम्मिलित होने के अपराध में एक धर्मान्ध मुसलमान ने शिमले में सर शफात खां को छुरे से मार

दिया। २ सितम्बर को लार्ड वेवल की योजना के अनुसार पं० जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रधान मंत्री बने। मि० जिन्ना ने उस दिन भारत के सब मुसलमानों को मातम का दिन मनाने का आदेश दिया। मि० जिन्ना की इस घातक नीति से देश में जो साम्प्रदायिक आग लगी, वह पूर्वी बंगाल के नोआखाली इलाके में पूर्ण वेग से फूट पड़ी। वहां मसलमानों की आबादी अधिक थी। उन्होंने हिन्दुओं पर आक्रमण करके बहुत से जान से मार दिए, उनके घर जला दिए, लूट लिए। उन्हें बलात्कार से चोटी काट-कर मुसलमान बनने पर बाध्य किया। हिन्दू नारियों की इज़्ज़त लूटी और अनेक देव-मंदिरों को भस्मीभूत कर दिया। महात्मा जी को इन काण्डों से भीषण हार्दिक एवं मानसिक संताप पहुंचा। वे उद्विग्न हो उठे। नोआखाली के अल्पसंख्यकों के व्रणों पर मरहम लगाने तथा वहां शांति का प्रसार करने के हेतु वे अपने समीपस्थ अनुयायियों की एक टुकड़ी के साथ वहां जा पहुंचे। गांव-गांव में पैदल घूमकर उस भीषण उपद्रवाग्नि को बुझाने का प्रयत्न करने लगे। स्वार्थ-साधकों द्वारा उभाड़े हुए धर्मान्ध मुसलमानों के मध्य में निरस्त्र घूमकर महात्माजी ने जो शांति-संदेश प्रसारित किया वह अद्भुत था, अनिर्वचनीय था। समस्त विश्व चकित रह गया। नोआखाली के मुसलमान गांधीजी की सच्ची शांतिप्रियता और निष्पक्षता से अत्यन्त प्रभावित हुए। भीषण अमानुषिक हत्याकांड थम गए, वातावरण शांत होने लगा किंतु लीगियों पर इस शांति-संदेश का कोई प्रभाव न पड़ा, वे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए छुरेबाजी पर उतर आये थे।

नोआखाली कांड की प्रतिक्रिया बिहार में हुई। वहां २५

अक्टूबर को 'नोआखाली' दिवस मनाया गया । कुछ धर्मान्ध हिन्दुओं ने क्रोधित होकर नोआखाली का बदला लेने के लिए मुसलमानों को त्रस्त करना आरंभ कर दिया । उन्हें येन-केन-प्रकारेण मौत के घाट उतार देना ही उनका उद्देश्य था। कहा जाता है कि लगभग साढ़े चार हजार मुसलमान खुदा के प्यारे हुए। इन समाचारों ने महात्माजी के हृदय की वेदना को बढ़ा दिया। जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता को वह अपने नैतिक कार्यक्रम का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग मानते थे, जिस पर वह बार-बार जीवन की बाजी लगाते थे—आंखों के सामने उसकी लाश उठती देख उनका दुखी होना स्वाभाविक था।

देश को मि० जिन्ना के दुराग्रह ने ऐसे संकट में डाल दिया था कि अंग्रेजी सरकार भारत का विभाजन करके पाकिस्तान निर्माण करने का जोरदार समर्थन करने लगी। यह समझकर कि संभवतः पाकिस्तान मिल जाने पर मि० जिन्ना और उनके अनुयायी शेष भारत में स्वराज्य की स्थापना में बाधक नहीं रहेंगे—लाचार होकर कांग्रेसी नेताओं ने भी विभाजन को स्वीकार कर लिया। परिणाम यह हुआ कि १९४७ के आरम्भ में इंगलैंड के प्रधान मंत्री मि० एटली ने कामन्स सभा में घोषणा कर दी कि अंग्रेज सन् १९४७ से पूर्व ही भारत को छोड़कर चले आयेंगे। छोड़ने से पूर्व मुसलमानों को संतुष्ट करना आवश्यक था । इसका एकमात्र उपाय भारत-विभाजन समझा गया था। महात्माजी विभाजन के कट्टर विरोधी थे परन्तु जब एक ओर नये गवर्नर-जनरल लार्ड माउन्टबेटन और दूसरी ओर कांग्रेसी नेता विभाजन को ही समस्या का एकमात्र हल मान रहे

थे तो महात्मा जी को भी दुःखित हृदय से उसे स्वीकृति प्रदान करनी पड़ी।

१५ अगस्त, सन् १९४७ को इंगलैंड ने भारत को स्वाधीनता देदी किन्तु उसका विभाजनकर उसके शरीरके दो टुकड़े कर दिए।

इस विभाजन का जो भयंकर परिणाम हुआ, उसका उदाहरण इतिहास में मिलना कठिन है। पाकिस्तान में हिंदुओं पर और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में भारत में मुसलमानों पर विपत्तियों के जो पहाड़ टूटे, जेसी मार-काट और बरबादी हुई, उसे इतिहास के पृष्ठों पर लगभग एक करोड़ व्यक्तियों के गर्म रक्त से लिखा गया।

नोआखाली में शांतिमय वातावरण की स्थापना करने के पश्चात् महात्मा जी दिल्ली में फैली साम्प्रदायिक अग्नि को शांत करने के उद्देश्य से दिल्ली पधारे। धर्मान्धता के कलुषित वातावरण में उनकी शीतल वाणी जादू का काम करने लगी। अपने आत्मिक बल के सहारे महात्माजी बहके हुए मनुष्यों को, जो पशुओं से भी गए-बीते हो चले थे, उबारने लगे। उपद्रव शांत होने लगे। उनका यह चमत्कार देख सारा विश्व दांतों-तले उंगली दबाने लगा।

प्रतिदिन सायंकालिक प्रार्थना के अवसर पर महात्माजी जो भाषण करते थे—वे शांति के प्रसार में परम सहायक सिद्ध होते थे। अतः उन्हें प्रतिदिन अखिल भारतीय आकाशवाणी के केन्द्र से प्रसारित किया जाता था। उनकी शांतिमयी अमृतवाणी सुनने के लिये अगणित नर-नारी प्रार्थना-सभा में सम्मिलित होते थे, फिर भी कहीं न कहीं उपद्रव की भड़की हुई आग अपना

विकराल रूप दिखाने लग जाती थी। यह देखकर महात्माजी ने १३ जनवरी, १९४८ को दिन के ११ बजे उपवास प्रारम्भ कर दिया। देशवासी और सब कुछ सह सकते थे किन्तु महात्मा जी के प्राणों पर संकट का आना उन्हें असह्य था। यह उपवास विशेष रूप से दिल्ली के सम्बन्ध में था। उपवास आरम्भ होने पर दिल्ली के प्रमुख हिंदुओं और राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं में हलचल-सी मच गई। उन्होंने एकमत होकर महात्माजी को विश्वास दिलाया कि वे शहर में मुसलमानों की मारकाट बंद करा देंगे। इस आश्वासन के मिलने पर १८ जनवरी को महात्माजी ने उपवास तोड़ दिया और मौलाना आजाद के हाथ से नारंगी के रस का गिलास लेकर उसे पी गए।

इस प्रकार आशा-जल से सिंचित होकर महात्माजी के जीवन की लता पुनः हरी होने लगी थी कि परमात्मा के यहां से बुलावा आ गया। ३० जनवरी, १९४८ की संध्या को पांच बजकर पांच मिनट पर महात्माजी दैनिक प्रार्थना में भाग लेने के लिए आभा और मनु के कंधों पर हाथ रखकर प्रार्थना-स्थान की ओर चल दिए। जब वे प्रार्थना के स्थान के समीप पहुंच गए तो एक महाराष्ट्रीय नवयुवक नाथूराम गोडसे भीड़ को चीरता हुआ आगे आया। वह उनके चरणों की ओर झुका—उपस्थित जनता ने समझा कि वह उनकी पावन-रज को मस्तक पर धारण करना चाहता है किन्तु दूसरे ही क्षण उसने अपनी जेब से रिवाल्वर निकाल ली और ठायं-ठायं करके तीन गोलियां महात्मा जी के सीने में दाग दीं—पावन रज के स्थान पर उसने उनकी हत्या के कलंक का टीका अपने मस्तक पर लगा लिया।

महात्माजी ने अपने हत्यारे को दया-दृष्टि से देखा, उसको हाथ जोड़ दिए, और 'हे राम' उच्चारण करते हुए निर्जीव होकर गिर पड़े। एक हिन्दू नामधारी पागल ने एक सच्चे हिन्दू के पावन रक्त से अपने हाथ रंग लिए।

सारा देश स्तब्ध रह गया। उनके अंतिम दर्शनों को विश्व के कोने-कोने से अगणित नर-नारी आये। सांप्रदायिक बलिवेदी पर एक सत्य-अहिंसा प्रेमी महान् मानव की बलि दे दी गई थी। मनुष्य जाति को इस प्रकार अनाथ करके बापू अपने राम का नाम लेते हुए उसके धाम की यात्रा पर चल दिए।

भारत की स्वाधीनता के पिता तुम्हें हजार बार प्रणाम !

डा० राजेन्द्रप्रसाद जी

: १२ :

डा० राजेन्द्रप्रसाद् जी

यदि स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेंद्र-प्रसाद की किसी ऐतिहासिक व्यक्ति से उपमा देनी हो तो राजा जनक का नाम याद आता है। राजा जनक आदर्श कर्मयोगी थे। वह राज्य के जलाशय में कमल-पत्र की तरह तैरते थे। डा० राजेन्द्रप्रसादजी की भी यही दशा है। उनका सारा जीवन कर्मयोग का एक लम्बा अध्याय है। अन्य देशों के प्रमुख शासकों पर जो प्रतिबन्ध संविधान या कानून द्वारा लगाये जाते हैं, भारत के प्रथम राष्ट्रपति पर वह उनकी सात्विक प्रकृति ने लगा दिये हैं। उनका सारा जीवन देश की निष्काम सेवा में व्यतीत हुआ है। कवि ने ठीक ही कहा है—'बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख।' राजेन्द्र बाबू ने कभी कोई पद नहीं चाहा और उन्हें एक के पीछे दूसरे अधिकार के आसन मिलते गये। यहां तक कि स्वतंत्र भारत की प्रजा जो सबसे बड़ा आसन दे सकती थी, उस पर कुछ न चाहने वाले राजेन्द्र बाबू को बिठा दिया। इसे उनकी निष्काम तपस्या का ही फल समझना चाहिये।

डा० राजेन्द्रप्रसाद का जन्म सन् १८८४ के ३ दिसम्बर के दिन, बिहार के सारन जिले के जीरादेई नामक ग्राम में एक सम्पन्न-कायस्थ परिवार में हुआ था। आपके पिता का नाम बाब महादेवसहाय था। महादेवसहायजी शतरंज के अच्छे

खिलाड़ी थे और कसरत और घुड़सवारी का उन्हें बहुत शौक था। वे फारसी के अच्छे विद्वान् थे। वैद्यक भी जानते थे। घर की दशा सम्पन्न थी, इस कारण रोगियों को मुफ़्त दवाई बांटा करते थे। राजेन्द्र बाबू की माता श्री कंवलेश्वरी देवी धर्मपरायणा नारी थीं। उन्हें तुलसी रामायण से बहुत प्रेम था। प्रातःकाल के समय रामयण का सस्वर पाठ करना उनका नित्य नियम था। राजेन्द्र बाबू के स्वभाव पर पिता की समाज-सेवा और माता की धर्मपरायणता की गहरी छाप दिखाई देती है।

बालक राजेन्द्र की शिक्षा छः वर्ष की अवस्था में घर पर ही आरंभ हुई थी। उनके दादा श्री चौधुरलालजी ने घर पर ही सब बालकों को पढ़ाने के लिए एक मौलवी साहब को लगाया हुआ था। वहां राजेन्द्र बाबू ने हिसाब और फारसी की प्रारंभिक शिक्षा पाई। स्कूल की ऊंची शिक्षा प्राप्त करने के लिए आपको छपरा भेज दिया गया। छपरा में उनके बड़े भाई रहते थे। दोनों भाई एक किराये के मकान में रहने लगे और रसोई आदि के लिए एक नौकर रख लिया। राजेन्द्र बाबू की प्रतिभा बचपन से ही पढ़ने में खूब चलती थी। उनके शिक्षक यह अनुभव करते थे कि यदि इस बालक की पढ़ाई निर्विघ्न चलती रही तो यह किसी दिन बहुत ऊंचा पद प्राप्त करेगा। आप में सबसे बड़ा गुण यह था कि आप एकचित्त होकर पढ़ाई में लगे रहते थे, कभी कोई विघ्न बीच में न आने देते थे। आपके सतत् परिश्रम का परिणाम यह हुआ कि आप कलकत्ता विश्व-विद्यालय की मैट्रिकुलेशन परीक्षा में सब सफल विद्यार्थियों में से सर्वप्रथम रहे। यह पहला अवसर था जब बिहार का कोई

विद्यार्थी कलकत्ता विश्वविद्यालय की मैट्रिकुलेशन परीक्षा में सर्वप्रथम रहा हो। राजेन्द्र बाबू की इस सफलता ने सारे बिहार प्रदेश की आंखें उनकी ओर आकृष्ट कर दीं। कालेज में शिक्षा प्राप्त करने के लिये आप कलकत्ते के प्रेजीडेंसी कालेज में प्रविष्ट हुए। वहां भी आपने बाजी मार ली। इन्टरमीजिएट और बी० ए० की परीक्षा में भी आप सर्वप्रथम रहे। प्रैजीडैंसी कालेज से ही आपने एम० ए० परीक्षा भी पास की। आपके पिता की इच्छा थी कि उनका पुत्र वकील बनकर खूब पैसा पैदा करे। पिता की इच्छानुसार राजेन्द्र बाबू ने १९१५ में कानून की सबसे बड़ी एम० एल० परीक्षा में सफलता प्राप्त की।

शिक्षा-प्राप्ति के दिनों में ही राजेन्द्र बाबू का मन सार्वजनिक कामों की ओर झुक गया था। कलकत्ते में 'डान सोसायटी' नाम की एक संस्था थी, जिसके संचालक श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी थे। उसका उद्देश्य नवयुवकों में ऊंचे विचारों को जाग्रत करना था। राजेन्द्र बाबू उसके प्रमुख सदस्य थे। आपने कई विचारपूर्ण निबन्ध उसमें पढ़े। जब बंग-भंग का आन्दोलन चला, तब छात्र होने के कारण अधिक भाग न लेने पर भी आपने स्वदेशी का व्रत धारण कर लिया था। हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी कार्यों में भी आप बहुत दिलचस्पी लेते थे। आपका उस अवस्था का एक स्मरणीय कार्य था 'बिहार स्टूडेंट्स यूनियन' की स्थापना। बंगाल के दृष्टांत से प्रभावित होकर बिहार में छात्रों के संगठन का सूत्रपात आपने ही किया था।

एम० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण होकर पहले राजेन्द्र बाबू शिक्षक बने। मुजफ्फरपुर के कालेज में सब मिलाकर एक वर्ष

तक कार्य किया, जिसमें कुछ समय तक प्रोफेसर रहकर फिर स्थानापन्न प्रिंसिपल के पद पर प्रतिष्ठित रहे। परन्तु पिता की इच्छानुसार एक वर्ष पीछे ही शिक्षक का कार्य छोड़कर वकालत का छात्र बनना पड़ा। एम० एल० परीक्षा में आपका नम्बर बहुत ऊंचा रहा।

आपने वकालत का प्रारम्भ कलकत्ते में किया। प्रतिभा-सम्पन्न और परिश्रमी तो आप थे ही, कानून के पेशे में शीघ्र ही चमक उठे। कुछ वर्ष पीछे पटना में हाई कोर्ट की स्थापना हो गई, तब आप कलकत्ते से पटना चले गये। वहां आपको हाईकोर्ट के वकीलों का मूर्धन्य बनने में देर न लगी। आपकी ख्याति प्रदेश भर में फैल गई। जानकार लोग आपकी योग्यता से प्रभावित होकर अनुमान लगाने लगे कि आप शीघ्र ही पटना हाईकोर्ट में जज बना दिये जायेंगे।

जब राजेन्द्र बाबू पटना में वकालत करते थे, तभी महात्मा गान्धी भी रामकुमार शुक्ल के निमन्त्रण पर चम्पारन गये। जिस दिन महात्माजी पटना पहुंचे, राजेन्द्र बाबू वहां नहीं थे। महात्माजी पटना में राजेन्द्र बाबू के घर गये, किन्तु वहां के नौकरों ने उन्हें नहीं पहचाना। महात्माजी उन दिनों नंगे पांव फकीरी वेष में रहते थे। नौकरों ने उन्हें वकील साहब का कोई गरीब मुवक्किल समझकर टाल दिया। यह बात पटना के दूसरे सामाजिक नेता मौ० मजरूल हक को मालूम हुई तो वह गांधीजी को अपने घर ले गये। महात्माजी पटना से मोतीहारी चले गये। जब घर लौटने पर राजेन्द्र बाबू को सब समाचार मिले तो वह तत्काल मोतीहारी को चल दिये। वहां जाकर देखा

कि महात्माजी के नील-सम्बन्धी आंदोलन से रुष्ट होकर सरकार उन पर अभियोग चलाना चाहती है। महात्माजी स्वयं तो जेल जाने की तैयारी में थे परन्तु उन्हें भविष्य की चिन्ता थी। उन्होंने वहां के कार्यकर्ताओं से पूछा कि मेरे जेल जाने के बाद आप लोग क्या करेंगे ? इस प्रश्न ने मानो राजेन्द्र बाबू के हृदय में तेज को जगा दिया। आपने उत्तर दिया कि हम आपके कार्य को पूरा करेंगे। हम तब तक यहां से नहीं जायेंगे, जब तक आपके प्रारम्भ किये कार्य को पूरा न कर लें।

सरकार ने महात्माजी को जेल नहीं भेजा। उसकी हिम्मत बीच में ही टूट गई और अभियोग वापिस ले लिया। वह कांड तो समाप्त हो गया, परन्तु राजेन्द्र बाबू ने उस प्रसंग में महात्मा-जी के सामने देश-कार्य के प्रति जो आत्म-समर्पण किया था, वह समाप्त नहीं हुआ। जिस गुरु-शिष्य भाव की उस अवसर पर स्था-पना हुई, वह महात्माजी के जीवनपर्यन्त न केवल विद्यमान् रहा अपितु प्रतिदिन गहरा होता गया। यहां तक कि अन्त में राजेन्द्र-बाबू महात्माजी की प्रतिमूर्त्ति ही बन गये।

जब कांग्रेस ने असहयोग के कार्यक्रम को अपनाकर वकीलों से वकालत छोड़ने की मांग की तो बिहार के वकीलों में से वकालत छोड़ने वालों में राजेन्द्र बाबू का नाम पहला था। आप वकालत का परित्याग करके मौ० मजरुल हक के 'सदाकत आश्रम' में जाकर रहने लगे और अपना सारा समय देश-सेवा के कार्य में लगाने लगे। वहां रहते हुए आपने बिहार विद्यापीठ की योजना बनाकर कार्यान्वित करने के अतिरिक्त कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम को पूरा करने में बिहार का नेतृत्व किया।

शीघ्र ही आप बिहार प्रदेश के सर्वश्रेष्ठ नेता माने जाने लगे।

१९२७ में राजेन्द्र बाबू को अपने एक मित्र के मुकदमे के सिलसिले में विलायत जाना पड़ा। यह मुकदमा उन्होंने कई वर्ष पूर्व ले लिया था। जब वह प्रिवी कौंसिल में पहुंचा तो राजेन्द्र बाबू को इंगलैंड जाना पड़ा। मुकदमा समाप्त होने पर आप यूरोप के भ्रमण को निकल गये। आस्ट्रिया में एक युद्ध-विरोधी सम्मेलन में हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लेने के कारण वहां के कुछ लोगों ने आप पर आक्रमण कर दिया, जिससे आपके कई चोटें आईं। स्विट्जरलैण्ड जाकर आप प्रसिद्ध लेखक रोम्यां रोलां से मिले।

१९३० में जोरदार सत्याग्रह-आन्दोलन आरंभ होने पर आपके कुशल नेतृत्व के कारण बिहार प्रदेश में आन्दोलन का बहुत ज़ोर बंध गया। बिहार के कारागार सत्याग्रही कैदियों से भर गये। इससे रुष्ट होकर सरकार ने आपको भी हजारीबाग की जेल में डाल दिया।

हजारीबाग जेल का जलवायु बहुत खराब था। अन्य व्यवस्था भी अच्छी नहीं थी। फलतः राजेन्द्र बाबू को सांस का रोग हो गया। आपके शरीर पर जो यह रोग का स्थायी राहु लगा हुआ है, वह जेल की ही देन है। जेल से छूटने पर आपको लम्बे समय तक हस्तपाल में रहना पड़ा। अभी आपका स्वास्थ्य पूरी तरह सुधरा भी नहीं था कि बिहार में सन् १९३४ का प्रलयंकर भूकम्प आ गया। उस भूकम्प ने बिहार के प्रत्येक अंग को घायल कर दिया। बड़े-बड़े शहर ईंट और मिट्टी के ढेर रह गये। खेतों में मनुष्य के सिर से

भी ऊंचा पानी भर गया। बहुत से पुराने नदी-नाले सूख गये और बस्तियों के गली-कूचों में दरिया बहने लगे। राजेन्द्र बाबू अपने बिहार की ऐसी दशा देखकर हस्पताल में कैसे बैठे रह सकते थे ? आप हस्पताल से बाहर आ गये और 'बिहार अर्थ-क्वेक रिलीफ सोसाइटी' की स्थापना करके उसके द्वारा प्रदेश की सेवा करने लगे। जिन लोगों ने आपको रोग की परवाह न करके उन दिनों भूकम्प-पीड़ितों की सेवा का कार्य करते देखा था, उन्होंने अनुभव किया था कि राजेन्द्र बाबू के कृश शरीर में अत्यन्त प्रबल आत्मा का निवास है। देश पर आपकी सेवाओं का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वर्ष के अन्तिम भाग में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, आप उसके अध्यक्ष चुने गये।

अध्यक्षता के वर्ष में और उसके पश्चात् भी आप निरन्तर देश-सेवा के कार्य में लगे रहे। कांग्रेस का कोई आंदोलन ऐसा नहीं उठा, जिसमें आपने आगे बढ़कर काम न किया हो। निरन्तर भाग दौड़ से आपको फिर सांस के रोग ने आ दबाया। अभी आप इलाज ही करा रहे थे कि १९४२ का 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू हो गया। जिस दिन कांग्रेस की महासमिति ने महात्माजी द्वारा उपस्थित किये गये प्रस्ताव द्वारा अंग्रेजों को भारत से चले जाने को ललकारा, उससे अगले दिन घबराई हुई सरकार ने भारत के लगभग सब राष्ट्रीय नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। जो बम्बई में थे वे तो पकड़े ही गये, जो रेल में सफर कर रहे थे या हस्पताल में इलाज करा रहे थे, उन्हें भी नहीं छोड़ा। राजेन्द्र बाबू को हस्पताल में ही गिरफ्तार कर लिया गया।

१९४४ के पश्चात् भारत का राजनैतिक घटनाचक्र बड़े

वेग से चलने लगा। १९४५ में प्रायः सब नेता जेलों से छोड़ दिये गये। '४६ में कांग्रेस और सरकार में बातचीत चलती रही। '४७ में अंग्रेजों ने भारत खाली कर देने का निश्चय कर लिया और १५ अगस्त के दिन विधिपूर्वक भारत के शासन की बागडोर भारत वासियों के हाथ में दे दी। जो पहली राष्ट्रीय अन्तरिम सरकार बनी, उसमें राजेन्द्र बाबू कृषि मन्त्री बनाये गये। स्वतंत्र भारत का संविधान बनाने के लिये १९४६ में जो संविधान सभा बनाई गई, आप उसके अध्यक्ष निर्वाचित किये गये। १९४७ में आप कांग्रेस के भी अध्यक्ष चुने गये। इस तरह देश ने आपको एक के पश्चात् दूसरा सम्मानित पद देते हुए १९५० में उस पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया, जो राष्ट्र की दृष्टि में सबसे अधिक सम्मानित था। आप भारतीय गणराज्य के पहले राष्ट्रपति चुने गये।

डा० राजेन्द्रप्रसाद ने पाकिस्तान बनने से एक वर्ष पहले १९४६ में 'इन्डिया डिवाइडेड' नाम की एक विद्वत्तापूर्ण पुस्तक लिखी थी, जिसके उपलक्ष में आपको विश्वविद्यालय ने 'डाक्टर आफ लिटरेचर' की उपाधि से विभूषित किया। अपने देश की राष्ट्र-भाषा हिन्दी से आपको अगाध प्रेम था। आप दो बार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने गये। राष्ट्रीय शिक्षा में राजेन्द्र बाबू की विशेष आस्था थी। बिहार विद्यापीठ की स्थापना की चर्चा हम पहले कर आये हैं। आपने अंग्रेजी काल के प्रमुख स्वतंत्र राष्ट्रीय विश्वविद्यालय गुरुकुल में तीन बार दीक्षान्त भाषण करके राष्ट्रीय शिक्षा से अतुल प्रेम को सूचित किया है। राष्ट्रपति पद पर चुने जाने के पश्चात् आपने जो पहला

सार्वजनिक भाषण किया, वह गुरुकुल कांगड़ी में १९५१ का दीक्षान्त भाषण ही था।

हमारे तपस्वी और कर्मयोगी राष्ट्रपति की सबसे बड़ी विशेषता उनके स्वभाव की सरलता है। नम्रता उनमें कूट-कूट कर भरी है। जो लोग उन्हें राष्ट्रपति बनने से पूर्व मिलते रहे हैं और पीछे भी मिले हैं, उन्हें यह देखकर आश्चर्य-मिश्रित प्रसन्नता होती है कि मकान, सामान और वेष-भूषा बदल जाने पर भी और राष्ट्रपति पद पर आरूढ़ होने पर भी आप वही हंस-कर मिलने वाले और हाथ जोड़कर नमस्कार करने वाले राजेन्द्र बाबू बने हुए हैं। वेष-भूषा में जो परिवर्तन हुआ है, उस पर प्रधान मन्त्री की गहरी छाप है और सिर पर सर्वथा ठीक कोण-कट टोपी रखने और कपड़ों को चुस्ती से पहनने में प्राइवेट सेक्रे-टरियों तथा सुशिक्षित नौकरों का हाथ है। अन्यथा आज भी राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद वही धरती के सच्चे देहाती सुपूत प्रतीत होते हैं, जो १९४७ से पहले थे।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

: १३ :
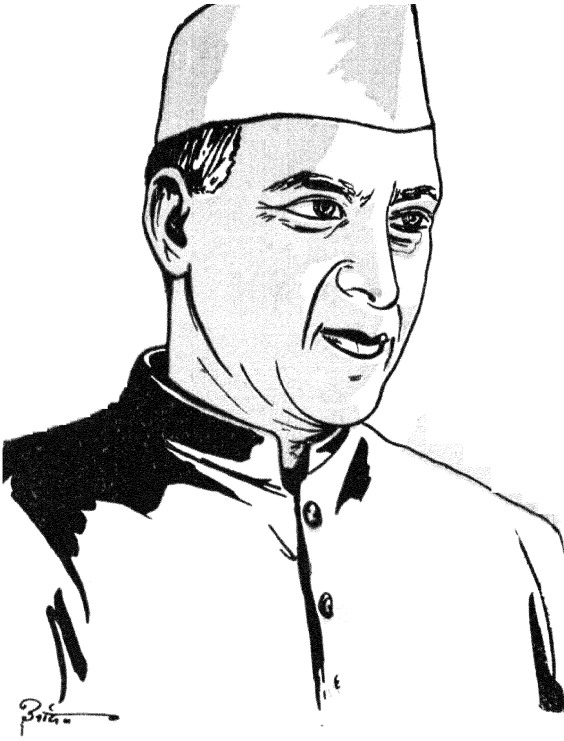
पण्डित जवाहरलाल नेहरू

भाग्य ने पं० जवाहरलाल नेहरू को जिन परिस्थितियों में जन्म दिया था, वे एक साधारण व्यक्ति को सुखार्थी नागरिक बनाने के लिये पर्याप्त होती हैं। वह फूलों की सेज पर उत्पन्न हुए और मखमल के गदेलों में पले। जिस भवन में उन्होंने संसार में प्रवेश किया, अपने समय में उसकी शान राजमहलों को मात देती थी और भवन के मालिक पर लक्ष्मी बरस रही थी। ऐसी परिस्थितियों में उत्पन्न होकर और पलकर कोई भी सामान्य व्यक्ति लक्ष्मीवानों के विलासितापूर्ण जलप्रवाह में बह सकता था, परन्तु पं० जवाहरलालजी अपवाद बन गये। इसके अनेक कारण हुए। एक समय आया जब जवाहरलालजी के पिता पं० मोतीलालजी के जीवन में क्रांति उत्पन्न हो गई, जिससे घर का वातावरण बदल गया। राष्ट्र की पतवार महात्मा गांधी जैसे तपस्वी नाविक के हाथ में आ गई, जिससे जवाहरलाल-जी के आन्तरिक शुभ संस्कारों के विकास को पूरा अवसर मिल गया। पं० जवाहरलाल नेहरू, जिनका जीवन-चरित्र आनन्द भवन में अंकुरित हुआ और हैरो तथा कैम्ब्रिज में मुकुलित हुआ, वह गांधी जी के सत्याग्रह, और अंग्रेजी सरकार के कारागारों के जलवायु में पलकर विकसित पुष्प के रूप में परिणत हो गया। विकास की जिस प्रक्रिया से जवाहरलालजी का चरित्र और यश वर्तमान गौरव तक पहुंचा है, वह प्रक्रिया अभी जारी है।

नई-नई परिस्थितियां उसपर नई प्रतिक्रियायें उत्पन्न करके उस विकास के क्रम को जारी रखे हुए हैं, इस कारण आज उनका जो चरित्र-चित्रण किया जाये वह वस्तुतः अपूर्ण ही होगा। वर्तमान चित्र उस भविष्य में बनने वाले पूर्ण चित्र का प्रारूप-मात्र होगा।

जवाहरलालजी के पूर्व पुरुष लगभग सवा दो सौ वर्ष पूर्व काश्मीर से आकर दिल्ली में बस गये थे। सन् १८५७ की राज्य-क्रांति तक वह परिवार जो यहां नहर सादतखां के पास रहने के कारण नेहरू कहलाने लगा था, दिल्ली में रहा। शहर-कोतवाल पं० गंगाधर ने इसी वंश में जन्म लिया था। जब दिल्ली पर फिर से अंग्रेजी सेना ने अधिकार जमा लिया, तब इस बार-बार बनने और उजड़ने वाले नगर के पुराने निवासी नगर छोड़कर चारों ओर तितर-बितर हो गये। श्री जवाहरलालजी के परदादा पं० गंगाधर जी उन्हीं निवासियों में थे। वह आगरे जाकर वहीं बस गय।

पं० मोतीलालजी का जन्म १८६१ ईस्वी के मई मास में हुआ। आप वकालत पास करके पहले कानपुर में और फिर इलाहाबाद में प्रैक्टिस करने लगे। पं० मोतीलालजी के स्वभाव की यह विशेषता थी कि वह जिस कार्य में लगते, उसमें पूरा दिल और पूरा बल लगा देते थे। प्रतिभा तेज ही थी, बहुत शीघ्र वकालत चमक उठी, और ऐसी चमकी कि वे कुछ ही वर्षों में न केवल इलाहाबाद हाईकोर्ट, अपितु सारे देश के मूर्धन्य वकीलों में गिने जाने लगे। कामयाब वकील को कमाई की कमी नहीं रहती। कहा जाता था कि पं० मोतीलाल नेहरू की वकालत की मासिक

कमाई औसतन तीस-चालीस सहस्र रुपयों तक पहुंच गई थी। आपने अपने बंगले का नाम 'आनन्द भवन' रखा था। वह सचमुच आनन्द का भवन बन गया था। उसकी विभूति गवर्नर की कोठी की विभूति को मात करती थी।

१४ नवम्बर, १८८९ को मोतीलालजी के घर में जवाहर-लालजी ने जन्म लिया। आपकी माता का नाम स्वरूपरानी था। ऐसे समृद्ध और सुसंगठित घर में जन्म लेकर यह स्वाभाविक ही था कि जवाहरलालजी का बचपन दुलार में बीतता। माता के दुलार के साथ-साथ तेजस्वी पिता का अनुशासन भी चल रहा था। एक बार की बात है कि बालक ने अपने पिता की मेज़ पर दो फौन्टेन पैन पड़े देखे। उसके पास एक भी पैन नहीं था। प्रतीत होता है, बालक जन्म से ही साम्यवादी विचार लेकर आया था। उसने सर्वथा उचित समझकर एक पैन उठा लिया। पं० मोतीलालजी को मालूम हुआ तो वह बहुत बिगड़े। उनका बिगड़ना प्रसिद्ध था। उससे घर भर कांप जाता था। खोज की गई तो चोर पकड़ा गया। मोतीलालजी ने अपने पुत्र को शिक्षा देने के लिये इतना मारा कि वह घायल हो गया। माता घायल बच्चे को बचाकर ले गई, और महरम-पट्टी कराई। सूर्य के समान तेजस्वी पिता के पुत्र को माता की गोद वृक्ष की ठण्डी छाया के समान प्रतीत होती थी। जवाहरलालजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि उन्हें अपनी माता बड़ी ही सुन्दर, अत्यन्त मधुर और दया की मूर्ति प्रतीत होती थीं।

१९०५ तक जवाहरलाल जी की शिक्षा घर पर होती रही, उसके पश्चात् उन्हें विलायत भेज दिया गया। वहां जाकर पहले

हैरो के प्रसिद्ध हाई स्कूल में और फिर आक्सफोर्ड के विश्वविद्यालय में शिक्षा पूर्ण करके वह बैरिस्टरी की तैयारी में लग गये। दो वर्ष उसमें लगे। १९१२ में जवाहरलाल जी बिलकुल अपटुडेट बैरिस्टर बनकर अपने देश में वापिस आ गये।

विलायत में शिक्षा प्राप्त करने से जवाहरलालजी के जीवन पर कुछ स्थायी प्रभाव पड़ गये। इंगलैंड में इतने समय तक रहने से उनके जीवन में नियन्त्रण की वह भावना उत्पन्न हो गई, जो अंग्रेजों की सफलता की कुंजी है। ऊपर से देखने में अंग्रेजों के जीवन स्वच्छन्द प्रतीत होते हैं, परन्तु गहराई में जाकर देखें तो वे राष्ट्रीय नियन्त्रण में बन्धे रहते हैं। जवाहरलालजी के चरित्र में नियन्त्रण की जो अद्भुत प्रवृत्ति दिखाई देती है, उसमें इंगलैंड की शिक्षा का भी भाग है।

इंगलैंड में चिरकाल रहने का जवाहरलालजी के चरित्र पर दूसरा प्रभाव यह पड़ा कि उन दिनों भारत के पराधीनतापूर्ण वातावरण में रहते हुए, शासक-जाति के लिये मन में जो अनावश्यक आदर-भाव उत्पन्न हो जाया करता था, जवाहरलाल जी ने अंग्रेजों के अति समीप रहकर उनके वास्तविक रूप को देख लिया। उसमें गुण भी थे और दोष भी। फलतः उनके हृदय में से अंग्रेजों के प्रति आंतक की भावना सर्वथा निकल गई।

भारत में वापिस आकर जवाहरलालजी ने कुछ वर्षों तक समृद्ध पिता के एकमात्र बैरिस्टर पुत्र का जीवन व्यतीत किया। उनका काम था, कचहरी में घूम आना और शिकार खेल आना। यह नहीं था कि आपकी राजनीति की ओर प्रवृत्ति न हो। राजनीति आपकी नस-नस में भरी थी, परन्तु उस समय

की प्रचलित राजनीति पर उनका भरोसा ही नहीं था। होमरूल के आंदोलन ने उन्हें थोड़ा-बहुत अपनी ओर खींचा, परन्तु उस में भी आपको बातें ही बातें दिखाई दीं। उनके मन में यह प्रश्न रह-रहकर उठता था कि यदि सरकार हमारी उचित मांग को पूरा न करे तो फिर हम क्या करें? हमारे पास कौन-सा उपाय है, जिसका प्रयोग सरकार को झुका सके?

१९१६ के वसन्तपंचमी के दिन दिल्ली में जवाहरलालजी का शुभ विवाह कमलाजी से सम्पन्न हुआ।

१९१९ के प्रारम्भ में भारत की राजनीति ने नये युग में प्रवेश किया। महात्मा गांधी ने रौलट ऐक्टों के विरोध में सत्याग्रह जारी करने की घोषणा की। उसके परिणामस्वरूप देश में जो सनसनीपूर्ण घटनायें हुईं, उन्होंने देश का रंग ही पलट दिया। जो देशभक्त तब तक देश की राजनीति से इस कारण उदासीन रहते थे कि उसमें बातों की मुख्यता और कार्य की कमी थी, सत्याग्रह के प्रयोग से उनके हृदयों में आशा का संचार हो गया। उन्हें इस प्रश्न का उत्तर मिल गया कि यदि सरकार हमारी मांगों को स्वीकार नहीं करेगी, तो हम उसपर दबाव कैसे डाल सकेंगे? उन्होंने अनुभव किया कि सरकार के दुराग्रह का उचित उत्तर देशवासियों द्वारा सत्याग्रह है। जवाहरलालजी भी ऐसे ही देशभक्तों में से थे। फलतः उन्होंने भी महात्मा गांधी जी के कदम पर कदम रखते हुए, १९१९ में भारत की राजनीति में प्रवेश किया।

जब जवाहरलालजी ने सत्याग्रह में भाग लेने का निश्चय किया तो एक अद्भुत बाधा खड़ी हो गई। पं० मोतीलालजी

ऊपर के व्यवहार में चाहे जितने खुरदरे थे, हृदय में वह अपनी सन्तान से बहुत प्यार करते थे । उस समय जेल एक हौआ था। उसमें जाना मरने से बदतर समझा जाता था। मोतीलाल जी को यह बात बहुत बेढंगी प्रतीत होती थी कि फूलों की सेज पर पला हुआ उनका एकमात्र बेटा जेल चला जाये। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि जवाहरलाल सत्याग्रह में भर्ती होने को तैयार हैं, तो वह बहुत रुष्ट हो गये और पुत्र को समझाने लगे। जब उससे भी लाभ न हुआ तो महात्मा गांधी को तार देकर इलाहाबाद बुलाकर जवाहरलालजी को रोकने की प्रार्थना की। महात्माजी तो भक्त-वत्सल थे ही, उन्होंने जवाहरलालजी को समझा-बुझाकर उस समय सत्याग्रह में सम्मिलित होने से रोक दिया।

उस समय तो महात्माजी के बन्द लगाने से पानी की बाढ़ रुक गई, परन्तु बाढ़ कब तक रुक सकती थी! जवाहरलालजी का हृदय देश की सेवा में कूदने के लिये उतावला हो रहा था। छोटी-छोटी घटना भी उनके उतावलेपन को बढ़ा देती थी। १९२० में आप माता और पत्नी को स्वास्थ्य-सुधार के लिये मंसूरी ले गये । वहां आप सेवाय होटल में ठहरे। उसी होटल में अफगान का राजदूत भी ठहरा हुआ था। जवाहरलालजी को वहां रहते एक मास व्यतीत हो चुका था कि एक अंग्रेज अफसर ने आपसे मिलकर यह आश्वासन मांगा कि वह अफगान राजदूत से कोई वास्ता न रखेंगे। जवाहरलालजी ने सरकार की इस मांग को अपमानजनक माना और आश्वासन देने से इन्कार कर दिया। सरकार को एक भारतवासी का

यह व्यवहार असह्य हो गया, और उसने जवाहरलालजी को २४ घण्टों में देहरादून के ज़िले से निकल जाने की आज्ञा दे दी। जवाहरलालजी तो नियत समय में देहरादून से चले गये परन्तु इस घटना के देशभर के समाचार-पत्रों में छपने पर सरकार पर जो लानत की बौछार पड़ी, उससे सरकार इतनी घबरा गई कि उसे अपना नादिरशाही हुक्म वापिस लेकर छुटकारा पाना पड़ा। इस घटना पर पं० मोतीलालजी ने उस समय संयुक्त प्रांत के गवर्नर सर हरकोर्ड बटलर को ऐसा करारा पत्र लिखा था कि वह भी सटपटा गया।

कुछ समय पीछे अवध के किसानों में जबर्दस्त आन्दोलन आरम्भ हो गया। उसने जवाहरलालजी को राजनीति में प्रवेश का अभीष्ट अवसर दे दिया। अवध के किसानों की दशा जागीरदारी प्रथा के कारण बहुत खराब होती जा रही थी। बाबा रामचन्द नाम के एक कर्मठ सज्जन उनकी करुण-कहानी लेकर इलाहाबाद आये। वहाँ उनकी जवाहरलालजी से भेंट हो गई। कहानी सुनकर जवाहरलालजी का हृदय पसीज गया, और वह अपनी आंखों से किसानों की दशा देखने के लिये बाबाजी के साथ चल दिये। बस, वह जवाहरलाल जी की उस लम्बी, संघर्षपूर्ण राजनीतिक यात्रा का प्रथम चरण था, जिस की आज तक भी समाप्ति नहीं हुई। आप जब किसानों की दशा देखने के लिये निकले, तब केवल एक जिज्ञासु थे और आज स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री हैं। आपकी इस लम्बी सार्वजनिक जीवन की यात्रा का प्रेरक कारण एक यही रहा है कि जहां कहीं भी अन्याय होता दिखाई दे, आप वहां कूद पड़ते

हैं, और अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर और सब खतरे उठाकर उसे मिटाने का यत्न करते हैं।

अवध के किसानों में जाकर आन्दोलन में भाग लेने से जवाहरलालजी के सामने जो एक बांध-सा लगा हुआ था, वह टूट गया, आप निःशंक भाव से देश के राजनीतिक कार्यक्षेत्र में प्रविष्ट हो गये। १९१९ में देश के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व संभालने के बाद महात्माजी ने जब और जो कार्यक्रम राष्ट्र के सामने रखा, जवाहरलालजी उसके पूरा करने में सबसे आगे रहने लगे। जानकार लोगों का विचार है कि जवाहरलालजी की सेना की अगली पंक्ति में खड़े होकर युद्ध करने की प्रवृत्ति का पण्डित मोतीलालजी पर भी प्रभाव पड़ा। पण्डित मोतीलाल जी की १९१८ के अन्त तक माडरेट नेताओं में गिनती की जाती थी। पंजाब के मार्शल-ला और जलियां वाला बाग के हत्या-काण्ड ने उन्हें माडरेटों के गिरोह में से निकाल कर महात्माजी के पास खड़ा कर दिया। परन्तु पुराने सब राजनैतिक संबंधों को तोड़कर उनके सत्याग्रहियों की सेना के अन्यतम नेता बन जाने का बहुत कुछ श्रेय जवाहरलालजी को दिया जा सकता है। ज्यों-ज्यों जवाहरलालजी शत्रु-सेना की गहराई में घुसते गये, त्यों-त्यों पण्डित मोतीलालजी का कदम भी आगे ही आगे बढ़ता गया। यहां तक कि कुछ वर्षों में पण्डित मोतीलाल जी का स्थान देश की राजनीति में महात्माजी के अत्यन्त निकट समझा जाने लगा।

इंगलैंड के युवराज के भारत आने पर असहयोग के रूप में कांग्रेस ने युवराज के स्वागत का बहिष्कार किया। बहिष्कार में

भाग लेने के कारण पिता और पुत्र दोनों नेहरू गिरफ्तार हो गये और लखनऊ की जेल में भेज दिये गये। पण्डित मोतीलाल जी को सरकार ने अधिक खतरनाक समझकर छः महीनों तक जेल में रखा, परन्तु जवाहरलालजी को शायद कम खतरनाक समझकर तीन महीनों में ही छोड़ दिया। जवाहरलालजी भला इस अपमान को कहां सहने वाले थे? बाहर आते ही उन्होंने फिर से बहिष्कार आंदोलन में भाग लेना आरम्भ कर दिया। इस बार सरकार को यह भान हो गया कि यह सुन्दर युवक सर्वथा निर्लेप नहीं है। अदालत ने आपको खतरनाक दोषी करार देकर एक वर्ष नौ महीने की सजा दी। यह सजा भी पूरी न हो सकी। देश की परिस्थिति को कुछ शांत देखकर संयुक्त प्रांत की सरकार ने कौंसिल के एक प्रस्ताव का सहारा लेकर ३१ जनवरी, १९२२ को सब राजनैतिक बन्दी छोड़ दिये। छूटे हुए बन्दियों में जवाहर-लालजी भी थे।

जवाहरलालजी में कुछ ऐसी विशेषतायें थीं जिन्होंने उन्हें तीन ही वर्षों में देश के प्रमुख नेताओं की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। एक प्रसिद्ध और समृद्ध पिता के पुत्र होने से जो निश्चिन्तता और ख्याति मिलती है, वह भगवान् की देन थी। परन्तु जब तक अपने अन्दर विशेष योग्यता न हो, तब तक पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई ख्याति स्थिर नहीं रह सकती, बढ़ने की तो आशा ही क्या हो सकती है। आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जिस समय आपकी जो विचारधारा हो, वह इतनी प्रबल और अपने लिये इतनी स्पष्ट होती है कि उसमें किसी सन्देह या आशंका की गुंजाइश नहीं रहती। आप सीधी

रेखा में सोचते हैं। और सोचने का जो परिणाम हो उसके अनुसार कार्य करने में देर नहीं लगाते। यहां आपकी दूसरी विशेषता काम आती है। वह विशेषता यह है कि आप गज़ब के साहसिक हैं। जब एक बार निश्चय कर लिया तो गहरे से गहरे पानी में छलांग लगाने से नहीं घबराते। 'साहसे श्रीर्निवसति' साहस में सफलता का निवास है। देश के सार्वजनिक जीवन में जवाहरलालजी की वायु के वेग से जो प्रगति हुई है, उसका सबसे मुख्य कारण आपकी साहसिकता है। आपकी तीसरी विशेषता जो १९२० में भी काम आती थी और आज भी काम आ रही है, यह है कि आपका अंग्रेजी भाषा पर पूरा प्रभुत्व है। आपने अपनी तेज़ और लचकीली प्रतिभा से अंग्रेजों की भाषा के रहस्यों को इतनी भली प्रकार अपना लिया है कि केवल अंग्रेजी जानने वाले भारतवासियों पर ही नहीं, जिनकी मातृभाषा अंग्रेजी है उन पर भी आप अपनी भावपूर्ण भाषा के बल से प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं। इन सब विशेषताओं के अतिरिक्त और इनके प्रभाव को सौगुना कर देने वाली विशेषता आपके व्यक्तिगत चरित्र में है। आपका निजी चरित्र बच्चों की तरह सादा और कर्मयोगियों की तरह तपोमय है। आज पूरे वैभव के स्वामी होने पर भी इसमें किसी को सन्देह नहीं कि आप निर्लेप भाव से देश की सेवा करते हैं। इन विशेषताओं ने जवाहरलालजी को प्रारम्भ से अब तक देश की सेवा में सदा आगे रहने की शक्ति प्रदान की है।

जब १९२२ में आप जेल से छूटे, तब देश का राजनैतिक वातावरण ठंडा हो रहा था। उस अवसर से लाभ उठाकर इलाहा-

बाद के नागरिकों ने पण्डित जवाहरलालजी को शहर की म्युनिसपैलटी का चेयरमैन चुन लिया। आपने अपने स्वभाव के अनुसार चेयरमैन के कर्तव्यों का पालन भी बड़ी तत्परता से किया परन्तु उतना कार्य जवाहरलालजी की संपूर्ण शक्तियों के लिये पर्याप्त नहीं था। आपका हृदय उछलकर वहीं पहुंचता था, जहां संग्राम का डंका बज रहा हो। १९२३ में नाभा नरेश पर सरकार द्वारा किये गये अत्याचारों का विरोध करने के लिये अकालियों ने जैतो के मोर्चे पर सत्याग्रह आरम्भ कर दिया था। अपनी आंखों से सारी परिस्थिति का अध्ययन करने के लिये जवाहरलालजी वहां जा पहुंचे। और जैतो की ओर जाने वाले एक अकाली जत्थे के पीछे-पीछे सत्याग्रह के स्थल के समीप पहुंच गये। वहां आपको सरकार की तरफ से हुक्म मिला कि नाके में मत घुसो। उस हुक्म को मानने से इनकार करने पर आपको और आपके अन्य दो साथियों को हथकड़ी-बेड़ी से सजाकर ले जाया गया। जेल में ले जाकर हथकड़ी-बेड़ी तो खोल दी गई परन्तु जो स्थान रहने को दिया गया, वह नरक से भी बंदतर था। बदबू और कीड़ों-मकोड़ों के कारण रात भर नींद नहीं आई। कई दिनों तक अभियोग का नाटक होता रहा। अन्त में ढाई वर्ष जेल की सजा हुई जो जेल के अन्दर पहुंचने पर नाभा से निर्वासन के रूप में परिणत हो गई और आप सही-सलामत दिल्ली पहुंच गये।

शीघ्र ही सत्याग्रह का एक दूसरा अवसर भी आ गया। उस वर्ष प्रयाग में कुंभ का स्नान था। अधिक पुण्य संगम पर स्नान करने से माना जाता है। किनारा खराब हो जाने से लोगों के

डूब जाने का डर था, इस कारण सरकार ने स्नान के मुख्य स्थान पर लोगों को रोकने के लिए लम्बा-चौड़ा जंगला लगा दिया था। उस पर पंडित मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में भक्त हिन्दू जनता ने जंगले के सामने धरना दे दिया, अर्थात् रास्ता रोककर बैठ गये। ऐसा सुअवसर पाकर जवाहरलालजी कहां चूकने वाले थे! वह भी सत्याग्रही भक्त लोगों में जा बैठे। परन्तु उससे भी उनका जी न भरा। कुछ घंटों के पश्चात् आप रेती में से उठकर जंगले पर चढ़ने लगे। उनकी देखादेखी और भी हजारों आदमी जंगले पर चढ़ने का उद्योग करने लगे। जंगले की चोटी पर चढ़ कर जवाहरलाल जी ने जेब से एक तिरंगा झण्डा निकाला और बल्ली पर चढ़ा दिया। पुलिस भला उसे कैसे बर्दाश्त करती? उसने चारों ओर से घेरा डाल लिया। इस पर मालवीयजी भी अपना शान्त धरना छोड़कर घेरे में घुसने का यत्न करने लगे। मामला बढ़ता देखकर पुलिस ने हार मान ली और मैदान मालवीयजी और जवाहरलालजी के हाथ में छोड़कर वहां से हट गई।

१९२६ में आप अपनी पतिपरायणा पत्नी कमला जी और पुत्री इन्दिरा के साथ यूरोप के भ्रमण को रवाना हो गये। वहां स्विट्ज़रलैंड, फ्रांस और जर्मनी आदि देशों में घूमते हुए और ब्रूसेल्ज की अधिकारहीन जातियों की कान्फ्रेंस में भाग लेते हुए आप रूस पहुंच गये, जहां पण्डित मोतीलालजी भी उनके साथ शामिल हो गये। सारे परिवार ने सोवियत सरकार की दसवीं वर्षगांठ में भाग लिया। इस यात्रा से दो लाभ हुए—एक तो कमलाजी का गिरता हुआ स्वास्थ्य कुछ सुधर गया और दूसरे

आपकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गहरी दिलचस्पी हो गई।

सन् १९२९ के अंत में लाहौर में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, वह भारत के स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में बहुत ही स्मरणीय रहेगा। उसके अंतिम दिन, ३१ दिसम्बर की रात के १२ बजे, भारत के सहस्रों प्रतिनिधियों ने हर्षसूचक जयकारों के मध्य में इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार किया था कि कांग्रेस का लक्ष्य भारत के लिए पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना है। कई वर्षों से जवाहरलालजी यह प्रयत्न कर रहे थे कि कांग्रेस का लक्ष्य पूर्ण स्वाधीनता को माना जाए। परन्तु महात्माजी और पण्डित मोतीलालजी औपनिवेशिक स्वराज्य से आगे बढ़ना उचित नहीं समझते थे। इस कारण कांग्रेस रुकी रही। १९२९ के अंत में पानी सिर से भी ऊंचा चला गया तब महात्माजी भी कांग्रेस का ध्येय बदलने के लिए राजी हो गए। यह उचित ही हुआ कि जिस अधिवेशन में पूर्ण स्वाधीनता को अपना लक्ष्य माना गया, उसके अध्यक्ष पण्डित जवाहरलालजी चुने गये थे। अधिवेशन से पहले जो जलूस निकला, उसमें पंडित जवाहरलालजी घोड़े पर चढ़कर सम्मिलित हुए थे। उस अवसर पर लाहौर के निवासियों ने आपका जो शानदार अभिनन्दन किया, उसे देखकर जवाहरलालजी की माता स्वरूपरानीजी की आंखों से हर्षसूचक अश्रुधारा बह गई थी। माता को ऐसे सुपुत्र पर गर्व होना ही चाहिए।

१९३० के आरंभ में देश का वातावरण नमक-सत्याग्रह के कारण बहुत गरम हो गया। अगले पांच वर्ष देश में धुआंधार आंदोलन के थे। उनमें जवाहरलालजी अधिक समय तक जेल में और

थोड़ा समय बाहर रहे। कई बार रिहा हुए और कई बार सजा पाई। पंडित मोतीलालजी कुछ वर्षों से बीमार रहने लगे थे। सांस के रोग से तो वह पहले ही पीड़ित थे, कई बार जेल जाने के कारण भी स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ा। आयु का भी तकाजा था। फलत: आपके स्वास्थ्य की दशा चिन्ताजनक हो गई। उधर कमलाजी का स्वास्थ्य भी निरन्तर गिरता जा रहा था। जब कमलाजी की दशा बहुत चिन्ताजनक हो गई तब १९३५ के सितम्बर मास में सरकार ने आपको जेल से मुक्त कर दिया। ४ सितम्बर को आप हवाई जहाज से वियाना के लिए रवाना हो गये। वहां जाकर इलाज से पहले तो कमलाजी के स्वास्थ्य में कुछ उन्नति होती दिखाई दी परन्तु रोग बहुत बढ़ चुका था, चिकित्सक उस पर काबू न पा सके और वह देशभक्त, पति-परायणा वीर रमणी २८ फरवरी, सन् १९३६ के दिन इस लोक के बंधनों से मुक्त होकर उस लोक में चली गई, जहां सती-स्त्रियों का उचित स्थान है।

मार्च मास में कमला जी के अवशेष लेकर जवाहरलालजी अपने देश में वापिस आ गये। देश भर में उनके लिए सहानुभूति और आदरभाव का जो दरिया उमड़ रहा था, वह इस रूप में प्रकट हुआ कि आप दूसरी बार सर्वसम्मति से कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में १९३६ के अप्रैल मास में हुआ। इस अधिवेशन में जो प्रस्ताव स्वीकार किये गये, उन पर जवाहरलालजी के व्यक्तित्व का रंग चढ़ा हुआ था। आप यूरोप से साम्यवाद का संदेश लेकर आये थे। यद्यपि वह संदेश लखनऊ के प्रस्तावों में ओतप्रोत नहीं हो सका तो भी उसकी झलक अवश्य

आ गई थी। अधिवेशन के बाद आप आराम से नहीं बैठे। साल भर देश में निरन्तर तूफानी दौरा करते रहे। आपके दौरों के साथ तूफानी शब्द तभी से लगना आरम्भ हुआ है। एक-एक दिन में मोटर पर डेढ़-डेढ़ सौ मील की दौड़ और बारह-बारह व्याख्यान---इस दृश्य को देखकर विदेशी पत्रों के संवाददाता भी आश्चर्यचकित हो गये थे।

वर्ष भर में पंडित जवाहरलालजी ने देश को इतना जगा दिया था कि जब वर्ष के अंत में यह प्रश्न उठा कि कांग्रेस के आगामी अधिवेशन का अध्यक्ष किसे चुना जाए तो देशवासियों को नेहरूजी के सिवाय और कोई नाम नहीं सूझा। और फैजपुर में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन के लिए नेहरू जी तीसरी बार अध्यक्ष चुने गए। तीसरी बार कांग्रेस का अध्यक्ष चुने जाने का सौभाग्य पहले पहल आपको ही प्राप्त हुआ।

१९३७ में धारा-सभाओं के चुनाव हुए। कांग्रेस ने भी उसमें भाग लिया। चुनाव में कांग्रेस को जो सफलता मिली, उसका बहुत बड़ा श्रेय पंडित जवाहरलालजी को ही था। उनके तूफानी दौरों ने जनता में इतनी जाग्रति पैदा कर दी थी कि कांग्रेस के विरोधियों के हथकंडे कामयाब न हो सके और आठ बड़े प्रांतों की धारा-सभाओं में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हो गया।

चुनाव हो जाने के अनन्तर फैजपुर के निश्चय के अनुसार मार्च के मध्य में दिल्ली में नेशनल कन्वेन्शन का अधिवेशन हुआ। उसका अध्यक्षपद भी पंडित जवाहरलालजी को ही प्राप्त हुआ। कन्वेन्शन में कांग्रेसियों की धारा-संबंधी नीति का निर्णय किया गया।

इस युग की एक विशेष बात यह है कि जवाहरलालजी ने अपनी आत्मकथा अंग्रेजी में लिखकर प्रकाशित की, जिसका भाषा और भावों की प्रौढ़ता के कारण देश और विदेश में बहुत मान हुआ।

यद्यपि धारा-सभाओं के चुनावों को सफल बनाने में पंडित जवाहरलालजी का बहुत बड़ा भाग था, तो भी वह स्वयं पराधीन धारा-सभाओं में जाने के विरुद्ध थे। वह जनता में जाग्रति पैदा करने के कार्य में ही लगे रहे। १९४० में यूरोप की जातियां दूसरी बार महायुद्ध के महासागर में कूद पड़ीं। सदा की भांति उन शक्तियों में इंगलैंड भी था। वह अपने पीछे-पीछे भारतवासियों से अनुमति लिये बिना ही भारत को भी घसीट ले गया। देश में इंगलैंड की इस अनधिकार चेष्टा पर रोष की एक लहर-सी दौड़ गई। यह आन्दोलन उठा कि क्योंकि भारत का इस युद्ध से कोई संबंध नहीं है, इस कारण भारत को युद्ध में इंगलैंड की सहायता नहीं करनी चाहिए। इस आन्दोलन के नेता पण्डित जवाहरलाल जी थे। सरकार को यह भी सन्देह था कि शायद कांग्रेस इस अवसर पर फिर सत्याग्रह की घोषणा कर दे। उसने आन्दोलन को जड़ से ही उखाड़ने का निश्चय करके एक व्याख्यान के आधार पर पंडित जवाहरलालजी को गिरफ्तार कर लिया। अभियोग का नाटक गोरखपुर में किया गया। जिला मजिस्ट्रेट ने नेहरूजी को चार साल के कठोर कारागार की सजा देकर सरकार के नमक का हक अदा किया।

१९४१ के अंत में युद्ध ने नई करवट ली। जापान लड़ाई में कूद पड़ा, जिससे घबराकर अंग्रेजी सरकार ने आवश्यक समझा

कि किसी तरह भारतवासियों को संतुष्ट करके युद्ध में अपना सहायक बनाया जाये। उस समय मौलाना आज़ाद कांग्रेस के अध्यक्ष थे और पं० जवाहरलालजी राष्ट्र के नेता। दोनों को तथा धीरे-धीरे अन्य नेताओं को भी जेल से रिहा करके सरकार ने कांग्रेस से बातचीत का सिलसिला शुरू कर दिया। इस बात-चीत के अवसर पर महात्माजी की इस घोषणा ने देश और विदेश में एक नई हलचल उत्पन्न कर दी कि मेरा उत्तराधिकारी जवाहर-लाल को समझा जाये। सरकार को बरबस उस आदमी से सलाह-मशविरा करने के लिए बाधित होना पड़ा, जो उनकी सम्मति में विद्रोहियों का सरगना था।

सरकार ने भारतवासियों को संतुष्ट करने के लिए सर स्टेफर्ड क्रिप्स नाम के एक राजनीतिज्ञ को भारत में भेजा, जो अपनी पिटारी में 'क्रिप्स स्कीम' नाम की ऐसी योजना को लेकर आया था, जिसे अंग्रेज लोग जादू की छड़ी समझते थे। परन्तु वह योजना साधारण छड़ी से भी कम प्रभावशाली निकली, क्योंकि वह नेताओं के सामने विचार के लिए आते ही टूट गई और क्रिप्स साहब को अपना-सा मुंह लेकर उल्टे पांव विलायत लौट जाना पड़ा।

इन ही विचार-विमर्शों में १९४२ का मध्य आ गया। सर-कार का जादू टूट चुका था, और देश उतावला हो रहा था। ८ अगस्त को बम्बई में राष्ट्रीय महासमिति का जो अधिवेशन हुआ, उसमें अंग्रेजों के वायदों से थके हुए, और स्वाधीन होने के दृढ़-संकल्प सदस्यों ने महात्मा गांधी के आदेश पर वह क्रांतिकारी प्रस्ताव जयघोष से स्वीकार किया जो, 'भारत छोड़ो' के नाम से

प्रसिद्ध है। उस प्रस्ताव द्वारा भारतवासियों ने अंग्रेजों को ललकार-कर कह दिया था कि अब भारतवासी स्वतन्त्र होने पर तुल गये हैं, उन्हें अंग्रेजों के वायदों पर रत्ती भर भी विश्वास नहीं रहा। इस कारण भलाई इसी में है कि अंग्रेज अब अपना बोरियाबिस्तर बांधकर भारत से विदा हो जायें।

दोपहर बाद यह प्रस्ताव स्वीकार हुआ और रात समाप्त होने से पहले महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, मौ० आजाद आदि सब नेता गिरफ्तार करके कारागारों में बन्द कर दिये गये।

अगले तीन वर्षों को हम अन्धकारमय कह सकते हैं। नेता लोग जेल में थे। अनेक कार्यकर्ता अपनी-अपनी रुचि के अनुसार गुप्त रूप से आतंकमयी प्रवृत्तियों में लगे हुए थे, और सरकार हर तरह से बेदिली-सी हो गई थी। परिस्थिति ने पलटा खाया और युद्ध समाप्त हो गया। इंगलैंड की ओर से बार-बार यह घोषणा की गई थी कि युद्ध समाप्त होने पर भारत को स्वराज्य दिया जायेगा। उस वायदे को पूरा करने के लिए १९४५ के प्रारंभ में लार्ड वेवल को वायसराय के पद पर नियुक्त करके भारत में भेजा गया। उसके आने पर पहले कांग्रेस की कार्यसमिति के सदस्य और फिर धीरे-धीरे अन्यराष्ट्रीय नेता भी जेलों से मुक्त कर दिये गये। जवाहरलालजी मुक्त होने वालों में सर्वप्रथम थे।

लार्ड वेवल की भारत के नेताओं से बातचीत कई महीनों तक चलती रही। मि० जिन्ना ने भारत के टुकड़े करके पाकिस्तान बनाने के मामले पर अड़कर पहले तो बातचीत को असफल बना दिया, परन्तु अन्त में लार्ड वेवल के धैर्य और राष्ट्र के नेताओं की

दूरदर्शिता कामयाब हो गई। जब तक स्वाधीन भारत का अंतिम रूप तैयार न हो, तब तक एक अन्तरिम अस्थायी सरकार बना दी गई, जिसमें नेहरूजी का पद सदस्यों में सबसे ऊंचा था। आप कौंसिल के वाइस-प्रेसीडेंट होने के अतिरिक्त विदेशी मामलों के सचिव भी नियत किये गये। १९४७ में भारत का स्वाधीन शासन बनने पर आप देश के सर्वप्रथम प्रधान मंत्री बनाये गये।

देश की नौका के मुख्य कर्णधार बनकर नेहरू जी ने जो अद्-भुत सफलता प्राप्त की है और देश तथा विदेश में भारत का जो मान बढ़ाया है, वह वर्तमान इतिहास का विषय है। उसे कौन-सा भारतवासी नहीं जानता, और अब तो हम कह सकते हैं कि सभ्य संसार का शायद ही कोई जानकार व्यक्ति ऐसा होगा जो भारत के प्रधान मंत्री और पंचशील के विश्व-प्रचारक जवाहरलालजी सें परिचित नहीं है।

स्वतन्त्रा प्राप्त करने के पश्चात् वर्तमान भारत के दो निर्माता कहे जा सकते हैं, सरदार वल्लभभाई पटेल ने उसका कलेवर बनाया है और पं जवाहरलालजी ने उसका मन। आज भारतीय गणराज्य का जो संगठित रूप है, उसे रियासतों के विलयन द्वारा सरदार जी ने बनाया था, तो उसकी जो अन्तर्देशीय तथा विदेश-संबंधी नीति है, वह नेहरू जी की कृति है।

प्रधान मंत्री-पद का बोझ कन्धों पर लेने के पश्चात् नेहरूजी की ऊंचाई निरन्तर बढ़ती गई है। उनके कंधे न केवल जनता से बहुत ऊंचे हैं, वे अपने सहयोगियों से भी इतने ऊंचे हो गये हैं कि इस समय कोई हाथ उठाकर भी उन्हें छू नहीं सकता। कांग्रेस और सर-कार दोनों इस समय नेहरूजी के महान् व्यक्तित्व के सहारे पर खड़ी

हैं। देश की राजनीति में आप राष्ट्रीय एकता, साम्यवादी कार्यक्रम और उन्नति के प्रतीक हैं, तो विदेशी राजनीति में आपको विश्व-शान्ति, भाईचारा और परस्पर सहयोग के प्रचारक समझा जाता है।

जवाहरलालजी केवल अपनी राजनीति के कारण ही बड़े नहीं, व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण भी बड़े हैं। ६६ वर्ष में कदम रखकर भी आप हृदय की निष्कपटता में बच्चों को मात करते हैं।

साहित्य-संसार में भी नेहरू जी का बहुत सम्मान है। आपकी लिखी पुस्तकों में से 'मेरी कहानी', 'विश्व इतिहास की झलक', 'पुत्री के नाम पिता के पत्र', 'हिंदुस्तान की कहानी' आदि न केवल देश में, विदेशों में भी बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं। विद्वत्ता के उपलक्ष्य में आपको पटना, दिल्ली आदि के विश्वविद्यालयों से एल० एल० डी० की उपाधि मिल चुकी है। दक्षिण एशिया के देशों की 'कोलम्बो कान्फ्रेंस' के नेता की हैसियत से आ. को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त है। उस विश्व-व्यापी आदर का प्रदर्शन उन दो विदेश यात्राओं में भली प्रकार से हो चुका है, जो आपने रूस और अमेरिका में, भारत के प्रधान मंत्री की हैसियत से की हैं। वहां की सरकारों के निमंत्रण पर १९५३ में आप अमेरिका और कनाडा गये, और १९५५ में रूस, जर्मनी, इटली, यूगोस्लाविया आदि देशों का भ्रमण किया। उन सब देशों में आपका जो शानदार शाही स्वागत और सत्कार हुआ, वह इसका प्रमाण है कि दुनिया भी आपके व्यक्तित्व की उत्कृष्टता और आपके आदर्शों की सत्यता को स्वीकार करती है। इसमें संदेह नहीं कि आपके कारण भारत का सिर विश्व भर के देशों की पंचायत में बहुत ऊंचा हुआ है।